हिन्दूधर्म्म-प्रवेशिका

प्रकाशक—

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

शाखायें—

ज्ञानवापी काशी,

सिविल हास्पिटल रोड देहली।

प्रकाशकका निवेदन ।

आजकल देखा जाता है कि बहुतसे हिन्दुओंको अपने धर्मकी बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसका कारण धार्मिक शिक्षा और उपदेशका अभाव है। इसे दूर करनेके अभिप्रायसे यह पुस्तक हमने हिन्दू-महासभाके विशिष्ट सज्जनोंके आग्रहसे प्रकाशित की है। इसका मुख्य आधार तो काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके मुख्याधिष्ठाता पं० आनन्द शंकर बापूभाई ध्रुवकी हिन्दू-धर्मकी बालपोथी ही है, पर अन्यत्रसे भी बहुतसी बातें लेकर इसमें जोड़ी गयी हैं। आशा है इससे बड़ी भारी त्रुटिकी पूर्त्ति होगी, क्योंकि धार्मिक ज्ञानके अभावके कारण ही हिन्दू-जाति छिन्नभिन्न होती चली जा रही है। और यह इसी उद्देश्यसे छापी गई है कि जिसमें यह पुस्तक सर्वसाधारणके पासतक पहुंच सके, इसीलिये इसका मूल्य भी लागतमात्र ही रखा गया है। आशा है कि सर्वसाधारण हिन्दुओंमे इस पुस्तकके प्रचारसे हिन्दू-संगठनमें, जिसके समानाधार संक्षेपसे नीचे दिये जाते हैं, बड़ी सहायता मिलेगी।

समान जाति

सभी मनुष्य जो एक जतिके हैं वे इस जातिके नाममें संगठित हो सकते हैं। हिन्दू-जनताके संगठनके लिये यह आधार है। सभी हिन्दू, चाहे बौद्ध हों, सिक्ख हों, जैन हों, आर्य्यसमाजी

हों, सनातनी हो, एक जातिके मनुष्य हैं। सबका जन्मस्थान हिन्दुस्थान है। सभीके पूर्वज एक हैं। इनमेसे कोई बाहरसे नहीं आया है और किसीकी वंश-परम्परा विदेशी नहीं है। "महर्षय: सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्था" से लेकर हरिश्चन्द्र और राम, श्रीकृष्ण और गौतमबुद्ध, श्रीऋषभाचार्य्य और श्रीशंकराचार्य्य, श्रीरामानुजाचार्य्य और श्रीनानक देव, विक्रमादित्य और शालिवाहन, शिवाजी और गुरुगोविन्द आदि सभी हिन्दू थे और सब हिन्दू उनको अपना पूर्वज मानते हैं। इस प्रकार सबकी एक जाति है और इसकी रक्षाके लिये सब एक हो सकते हैं। संगठनका दूसरा आधार है

समान धर्म।

हिन्दू-जातिका समान धर्म है और वही हिन्दू-धर्म है। हिन्दुओमें इस समय कई साम्प्रदायिक धर्म हैं, पर सबके सिद्धान्त एक हैं। जिन्हें हम आज साम्प्रदायिक धर्म समझते हैं वास्तवमें हिन्दू-धर्मसे स्वतन्त्र वे कोई भिन्न धर्म नहीं हैं। जिन महापुरुषोके नामपर ये साम्प्रदायिक धर्म चले हैं उन्होने स्वयं कोई अलग अपना धर्म चलाना नहीं चाहा था। हिन्दू-धर्मके जो सर्वमान्य सिद्धान्त हैं और उनके अनुकूल जो आचरण हैं वह जब जब दूषित हुए हैं तब तब महात्माओने अवतीर्ण हो उन्हे सुधारा है और अपने युगके अनुसार हिन्दुओंके एक वा अधिक सिद्धान्तोंपर अधिक जोर दिया है। इसका प्रमाण यही है कि हिन्दू-धर्मके आज जितने भी सम्प्रदाय हैं उनके सिद्धान्तोंमे विरोध

नहीं है। हिन्दुओमें तीन चौथाई सनातनियोंकी संख्या है और सबका धर्म हर प्रकारसे एक है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कर सकता। आर्य-समाजियोंका धर्म भी वही है जो सनातनियोका, इसे स्वयं आर्य्य-समाजी भी मानते हैं। दोनोंका धर्म वैदिक धर्म है। अब रह गये जैनी और बौद्ध। साधारणतः यह धारणा है कि ये दोनों धर्म अवैदिक हैं, अतएव ये हिन्दू-धर्मसे भिन्न हैं। पर वास्तवमें यह भूल है। यह इन धर्मोंके उन्नतिकालकी अवस्था जानने और उनके धार्म्मिक ग्रन्थोंके पढ़नेसे ही मालूम हो जायगा कि उनके धार्म्मिक सिद्धान्त भी वे ही हैं जो वैदिक हिन्दुओंके। वेदने "अहिंसा परमोधर्मः" माना है। इनका भी अहिंसा परम धर्मः है। फिर इनका धर्म वेदविरुद्ध कैसे कहा जा सकता है? सच बात तो यह है कि इन्होंने वेदोंकी निन्दा नही की थी। वेदके नाममें जो अधर्म हो रहा था उसकी निन्दा की थी। बुद्धको सभी हिन्दू अवतार मानते हैं। परम कृष्णभक्त जयदेवने भक्तिपूर्ण मधुर रागमें गाया है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदय—हृदय—दर्शित पशुघातम्॥
केशव धृत बुद्धि शरीर, जय जगदीश हरे॥

सभी हिन्दू बुद्धकी भक्ति इसी प्रकार करते हैं। बुद्धने वेदाज्ञाके बहाने होनेवाली पशुहत्या और अन्य धार्मिक अंधेरोंकी निन्दा की थी वेदकी नही, वेदधर्मकी नहीं। बौद्ध-धर्म हिन्दूधर्मसे भिन्न नहीं है। इसके बाद सिक्ख-धर्म है। आज यह हिन्दू-धर्मसे

अलग समझा जाता है, पर इसकी उत्पत्ति हिन्दूधर्मकी रक्षाके लिये ही हुई थी। खालसाके स्थापक गुरु गोविन्दसिंहकी

सकल जगतमे खालसा पंथ गाजे।
बढ़े धर्म हिन्दू सकल भंड भाजे॥

वाणी सिक्ख-सम्प्रदायका उद्देश्य बतलानेके लिये पर्य्याप्त है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि किसी धर्म्माचार्य्यकी इच्छा अलग स्थायी सम्प्रदाय स्थापित करनेकी नहीं थी, सभी हिन्दू-धर्मकी रक्षा चाहते थे। पर अब ये सम्प्रदाय स्थायी हो गये हैं। उपासनाके मार्गमें उनमें कुछ विभिन्नता है। पर इन सम्प्रदायोंकी एकता आज भी ज्योंकी त्यो है। सभी सम्प्रदाय एक ईश्वरको मानते हैं। सभी सम्प्रदाय प्रणववाचक ॐ की उपासना करते हैं। सभी "आचारप्रभवो धर्मः" का सिद्धान्त मानते हैं। ईसाई या मुसलमान-धर्मकी तरह केवल सिक्ख, बौद्ध या सनातनी होनेको ही वे मुक्तिका मार्ग नहीं समझते। सभी हिन्दू-सम्प्रदायोंका यह विश्वास है कि उपासनाका यही एक मार्ग नहीं है जिसे हम करते हैं "आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं। सर्व्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति॥" के सिद्धान्तोंको सभी मानते हैं। सबका पुनर्जन्मके सिद्धान्तमे विश्वास है, सभी कर्मफलके कायल हैं। आत्माके अमरत्वपर सबका विश्वास है। इसके सिवा अन्य कितने समान सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त सब सम्प्रदायोके हैं। ये हिन्दू-धर्मके सिद्धान्त हैं। ये किसी अन्य धर्मके सिद्धान्त नहीं हैं। यह हिन्दू-

सम्प्रदायोंकी और समान हिन्दू-धर्मकी विशेषता है। इसकी रक्षा करना सभी सम्प्रदायोंका कर्त्तव्य है। हिन्दू-जातिका कर्त्तव्य है। इसलिये इस धर्मकी रक्षाके लिये हिन्दू संगठित हो सकते हैं। तीसरा आधार

समान जन्मभूमि

है। सभी हिन्दू-सम्प्रदायोंकी जन्मभूमि भारत है। यही इनका वासस्थान है, यही इनके पूर्वज और धर्म्म-संस्थापक उत्पन्न हुए हैं। इसलिये आसेतुहिमाचल और सिन्धु नदीसे बंगसागर-तक यह समग्र हिन्दुस्थान देश समग्र हिन्दू-जातिका अखण्ड और पवित्रतम तीर्थस्थान है। यह जन्मभूमि प्रत्येक हिन्दूके लिये "स्वर्गादपिगरीयसी" है। जिसके विषयमे "धन्यास्तुते भारतभूमिभागे" की धारणा है, वह भारतभूमि प्रत्येक हिन्दूकी जन्मभूमि और धर्मभूमि है। उसकी रक्षाके लिये सब हिन्दू एक हो सकते हैं। इसके सिवा समान संस्कृति और समान इतिहास भी संगठनके आधार है। हिन्दू-जातिकी संस्कृति प्रत्येक हिन्दू-सम्प्रदायकी संस्कृति है और भारतेतिहास सबका इतिहास है। उस संस्कृति और उस इतिहासका गौरव रखना हिन्दूमात्रका कर्त्तव्य है। संगठनका एक आधार

समान भाषा

भी है और यह एक बहुत मजबूत आधार है। पहले सभी हिन्दुओंकी भाषा एक थी, [सबकी भाषा संस्कृत थी, पर अब

सबकी भाषा एक नहीं है। अब प्रांतिक भाषाएं हैं। पर इन भाषाओंके मूलमें आज भी संस्कृत भाषा है। जितनी प्रांतिक भाषाएं हैं सबका साहित्य संस्कृत-साहित्यके प्रभावसे ओत प्रोत है। दक्षिणात्यकी भाषा तामिल और तेलगू है पर संस्कृत-साहित्यका वहां भी पूरा प्रभाव है। सबके उदाहरण और रूपकोंमें रामायण और महाभारतकी कथाओं और घटनाओंका वर्णन पाया जाता है। सिक्खोंको छोड़कर सबके धर्मग्रन्थ संस्कृत प्राकृतमें हैं। इस प्रकार भाषाकी भीतरी एकता है पर बाहरी एकता नहीं है। यह एकता स्थापित करनी होगी। एक राष्ट्रभाषा बनानी होगी जिसके लिये पर्य्याप्त आधार है। संगठनका अन्तिम पर वर्त्तमान युगमें सबसे महत्वका आधार समान राजनीतिक स्वार्थ भी है।

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ-संख्या

हिन्दूधर्म्म प्रवेशिका

[१]

हिन्दू (आर्य) धर्म

हिन्दू (आर्य) धर्म वह सर्वश्रेष्ठ धर्म है जिसका लक्षण इस प्रकार है:—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

अर्थ—जिस विधिसे दोनों लोकोमें सुख प्राप्त हो, मनुष्य इस लोकमे जिस मार्गसे शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सुखसमृद्धिके भोगोंको प्राप्त कर सके और जिस विधिसे परलोकमे बाधा पहुंचानेवाले कर्मों का त्याग कर सके वही धर्म है, जो लोक परलोक दोनोंमे कल्याणका देनेवाला हो वही धर्म है। धर्मकी विस्तृत व्याख्या श्रीमान् पंडित बालगंगाधर तिलककृत गीतारहस्यमे की गई है, जिसका भावार्थ यहां कहा जाता है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः

जिसके विना संसार चल न सके, स्थिर न रह सके और जो पृथ्वी और लोकोंको धारण करता हो, जिससे सब कुछ नियमबद्ध रहे और जिससे जनताकी वृद्धि हो वही धर्म है और जो इसके विपरीत है वा इससे विपरीत फल पैदा करता है वह धर्म नही है, अधर्म है।

हिन्दुस्थान (आर्यावर्त्त)

हिन्दूधर्मको माननेवाले प्राचीन कालमे आर्य बोले जाते थे। इसीलिये इनका देश आर्यावर्त्त कहलाता था। यही आर्य लोग शनैः शनैः विदेशियोंद्वारा हिन्दू कहलाने लगे, एवं इनका देश भी हिन्दुस्थान कहलाने लगा। इसी हिन्दुस्थान देशको दिखानेके लिये इस पुस्तकके प्रारम्भमे पृथ्वीका नकशा दिया गया है।

बालको! इस पृथ्वीके नकशेपर नजर डालो। अपने इस एशियाखण्डमें और जहां एशियासे अफ्रिका मिलता है उस कोनेमें तुम्हें कितनी ही बड़ी बड़ी नदियां देखनेमें आती हैं। (१) एक यह नाइल है (२) इसके पास ये दूसरी दो—युफ्रेटिस और टाइग्रिस हैं (३) एशियाके सामने भागमें दो नदियां हो-आंग-हो और यांग से कयांग हैं (४) बीचमे आमू और सर दरिया, और इनके पास कास्पियन* सरोवर तथा वालगा और युरल नदी हैं (५) वहांसे चलकर हिन्दुस्थान (आर्यावर्त्त) में आनेपर सिन्धु, गङ्गा, यमुना और नर्मदा हैं और इन्हें उल्लंघन कर दक्षिणमें गोदावरी, कृष्णा और कावेरी हैं।

हिन्दुस्थानकी प्राकृतिक महिमा।

नदीके किनारे अनाज और घास चारे अच्छे हुआ करते हैं। ढोरोके पीनेके लिये पानी भी खूब होता है, और यदि छोटी छोटी नावें बनाना आता हो तो जलके मार्गसे मुसाफिरी करने और

* कास्पियन सरोवर—काश्यपमुनिके नामसे 'काश्यप सरोवर' नाम पड़ा। काश्यपका अपभ्रंश ही कास्पियन है।

मालके आने जानेमे बहुत ही सुविधायें मिलती हैं। इसकारण प्राचीन कालमें नदियोंके प्रदेशमे मनुष्योंने बसकर अपना सुधार और उन्नति की। अर्थात् व्यापार, शिल्प-कला, साहित्य, कुटुम्ब, राज्यधर्म "आदि" विद्या जिन जिन बातोंमें सभ्य मनुष्य जङ्गली मनुष्योंकी अपेक्षा बढ़े चढ़े हैं, इन सब बातोंका इन्हीं नदियोंके प्रदेशमें विकास हुआ।

इनमेंसे पहले दो प्रदेशोंमे आर्यधर्म और हरेक तरहके प्राचीन सुधार नष्ट हो गये। जमीन खोदनेपर उसमेंसे बासन, हथियार, अक्षरांकित ईंटे इत्यादि पदार्थ निकलते हैं जिनके आधारपर वहांकी सभ्यताके विषयमें हम बहुत कुछ जानते हैं। किन्तु सिन्धु और गङ्गा यमुनाके प्रदेशमें बसे हुए लोगोंने जैसी पुस्तकें रचीं वैसी नाइल और युफ्रेटिस-टाइग्रिसके प्रदेशमें, जो मिश्र, आसीरिया, खाल्दीया और बेबीलोनियाके नामसे विख्यात हैं, बसनेवाले लोगोंने नहीं रची। हो-आंग-हो और यांग-से कयांग-का तीसरा प्रदेश जो चीन देश कहलाता है, उसकी सभ्यता अभी वर्तमान है। किन्तु इस देशके लोगोंने भी गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें उत्पन्न हुए धर्मको ही स्वीकार किया है। कास्पियन सरोवर और उसके आसपासकी नदियोंके किनारोंपर बसी हुई प्राचीन सभ्य प्रजा आर्यजातिके नामसे कही जाती है। यह जाति बहुत पुराने समयसे ग्रीस, रोम, ईरान (आर्यन) हिन्दुस्थान और जुदी जुदी जगहोंमे फैली हुई थी। यह आर्य-प्रजा सिन्धु नदीके किनारे बसी। वहांसे गङ्गा-यमुनाके प्रदेशमें इन आर्य लोगोंने जो धर्म फैलाया वही दक्षिण हिन्दुस्थानमे फैला।

हमारा यह मत निःसन्देह ठीक है कि पृथ्वीपर फैले हुए धर्मोंमे सिन्धु और गङ्गा नदीके प्रदेशमें विकसित हुआ धर्म, जिसे हिन्दू-धर्म कहते हैं, जितना पुराना है उतना पुराना और कोई धर्म नहीं। इससे और भी महत्वकी बात यह है कि इस धर्मका प्रभाव प्राचीन कालमें हिन्दुस्थानके बाहर पश्चिममे मिश्र और यूरोपतक और उत्तरपूर्वमे तिब्बत, चीन और जापानतक, दक्षिणपूर्वमे लङ्का, ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावाके टापुओंतक हुआ था। इस धर्मको हम इसके मूल उत्पत्ति-स्थान सिन्धुके आधारपर "हिन्दू-धर्म" कहते हैं।

इस धर्मकी प्राचीन पुस्तकें, जो हजारों वर्ष पहलेकी हैं, आज विद्यमान हैं और यद्यपि इस धर्मके आकारमे देशकालके अनुसार बड़े फेरफार हुए हैं तथापि इसके मूल तत्व अबतक विद्यमान हैं। सिन्धु और गङ्गाके किनारे बसनेवाले प्राचीन आर्योंने जो परमात्माके विषयमे सिद्धान्त स्थिर किये हैं, वे ही सिद्धान्त हिन्दू लोग अबतक मानते हैं, और जैसे वे सूर्यके सामने देख उसके तेजमे परमात्माका ध्यान करते, उसकी स्तुति करते और अग्निद्वारा आहुति देते थे तदनुसार आजकलके हिन्दू भी करते हैं।

ऐसे प्राचीन कालसे चले आते हुए धर्मका स्वरूप हरेक हिन्दू बालकको जानना उचित है। मैं उसे सरल रीतिसे समझानेकी चेष्टा करूंगा किन्तु यदि कोई नवीन बात जानना हो तो उस विषयमे मन लगाना पड़ता है और बुद्धिसे भी काम लेना पड़ता है, इसलिये मुझे आशा है कि तुम भी ऐसा ही करोगे।

आज तो हिन्दू-धर्म क्या है, यह धर्म कहां उत्पन्न हुआ और कहां कहां फैला, और वह कितना पुराना है,इत्यादि बातोंको याद रखोगे तो पर्याप्त होगा।

कला=हुनर। सिद्धान्त=निर्णय।

विकास=उन्नति। अग्निद्वारा आहुति=यज्ञ होम।

पर्याप्त=काफी

---

[२]

हिन्दूधर्मके शास्त्र

बालको! परमेश्वरको समझना, उसका भजन और उसके इच्छानुसार काम करना, तथा इस भांति अपने और सबके जीवनका कल्याण करना, इसका नाम धर्म है। इस सम्बन्धमें हिन्दुस्थानमे बहुत प्राचीन कालसे जो पुस्तकें लिखी गई हैं वे हिन्दू-धर्मके शास्त्र कहलाते हैं। अर्थात् जिन पुस्तकोंमें आज्ञाके वा ज्ञानके वचन हैं, वे ही 'शास्त्र' हैं।

इस शास्त्रके बड़े कौन कौन विभाग हैं और वे इतिहासमें किस क्रमसे उत्पन्न हुए हैं, इस विषयमें कुछ जानना चाहिये। जैसे कल हिन्दू-धर्मके भूगोलकी आलोचना की गयी थी वैसे ही आज हिन्दू-धर्मके इतिहासका दिग्दर्शन कराया जायगा। इस इतिहासमे इन शास्त्रोंके तिथि-संवत्के कठिन प्रश्न देकर मैं तुम्हें हैरान नहीं करूंगा।

(१) हिन्दू-धर्मके सब शास्त्रोंका मूल-प्रथम शास्त्र-

'वेद'* (अर्थात् धर्मसम्बन्धी ज्ञानकी पुस्तक) है। वेदको 'श्रुति' सुना हुआ ज्ञान भी कहते हैं। कारण यह कि ज्ञान ऋषियोंने साक्षात् परमात्माके पाससे सुना था, याने उन ऋषि-मुनियोंके निर्मल अन्तःकरणमे परमात्माकी ओरसे अलौकिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। यही वेद है। 'वेद'संसारमे सबसे प्राचीन पुस्तक है।

संसारका इतिहास यह पता नहीं लगा सका है कि वेदोंका निर्माण कब हुआ। पाश्चात्य सभ्यताके अनुयायी भी यह मानते हैं कि यद्यपि वेद अति प्राचीन हैं? तब भी यह लोग यही कहते हैं कि अबसे आठ सहस्र वर्ष पूर्व वेदोंकी पुस्तकें निर्माण की गई थी। यह बात निर्विवाद है कि सबसे प्राचीन और ज्ञाननिधि यदि कोई पुस्तक है तो वेद है। वेदमे परमात्माकी स्तुति, यज्ञका वर्णन और परमात्माके स्वरूपके विषयमें विचार किया गया है और इस सम्बन्ध की पुस्तकें क्रमसे संहिता+, ब्राह्मण† और उपनिषद्‡ कहलाती हैं।

---

* वेदको यथार्थ समझनेके लिये यह छः विद्याएं जानना परमावश्यक हैं। (१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) छन्द (५) ज्योतिष (६) निरुक्त। इसीलिये यह छः विद्याएं वेदके छः अङ्ग कहलाते हैं।

*संहिता चार हैं। इनके नाम, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद हैं।

† ब्राह्मण चार हैं। शतपथ, गोपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय।

‡ उपनिषद्। यद्यपि उपनिषद् इस समय १०८ की सख्यामे पाये जाते हैं; परन्तु प्रधान उपनिषद् १२ ही माने जाते है। जिनके नाम यह है—ईश, केन, प्रश्न, कठ, मुंड, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और कौषीतकी।

(२) इस समयके पश्चात् जो प्राचीन ऋषियोंने सुना था और सबको सुनाया था उस विषयमें नये ऋषियोंने विचार आरम्भ किया। उन्होंने प्राचीन ज्ञानका स्मरण कर नये ग्रन्थ रचे। ये ग्रन्थ 'स्मृति' अर्थात् स्मरण किया हुआ ज्ञान कहलाते है। इनमें परमात्मासम्बन्धी विचारको छोड़ पुराने रीतिरिवाज क्या थे और वे किस रीतिसे पालन किये जाते थे, इत्यादि विषयोंकी आलोचना है। जुदे जुदे ऋषियोंके कुलोंने स्मृतियोंकी छोटी छोटी पुस्तकें रची हैं और उनपरसे (मनु, भृगु, याज्ञवल्क्य इत्यादि) बड़े बड़े ग्रन्थ बनाये गये हैं। महाभारत, रामायण और पुराणों*में इस विषयकी वार्तायें हैं अतएव उनकी भी स्मृतिमे गिनती है।

(३) इस समयके बाद जब इस तरहकी पुस्तकें बहुत हो गयीं तब इन सबमेसे धर्म-सम्बन्धी क्या सार निकलता है, यह बतलानेवाले अचार्य हुए। उनके बड़े ग्रन्थ 'भाष्य' कहे जाते हैं। ऐसे भाष्य बनानेवालोंमें मुख्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य दक्षिण हिन्दुस्थानमें जन्मे थे।

(४) अन्तमे सन्त-साधुओंने देशकी प्रचलित भाषामें परमेश्वर-विषयक ज्ञान और भक्तिके पद गाये, धर्म और नीतिका उपदेश किया। यह सन्तोंकी वाणी हिन्दू-धर्मके शास्त्रोंमे गिननेयोग्य है। कारण यह कि बहुतसे हिन्दू इसे इसी भावसे पढ़ते हैं और

* पुराण अठारह हैः—ब्रह्म, पद्म, ब्रह्माण्ड, अग्नि, विष्णु, गरुड, ब्रह्मवैवर्त्त, शिव, लिङ्ग, नारद, स्कन्ध, मार्कण्डेय, भविष्य, मत्स्य, वाराह, कूर्म, वामन, भागवत।

इसकी रचना करनेवालोंको गुरुके समान मानते हैं। कबीर, नानक, रामदास, तुकाराम, मीराबाई, तुलसीदास आदि महात्माओंके नाम सारे हिन्दुस्थानमे जाने हुए हैं और इनमेसे कितनोंहीके बड़े बड़े पन्थ भी चलते हैं, जिनमेंसे सबसे बड़ा पन्थ गुरुनानकका चलाया हुआ सिक्ख-सम्प्रदाय गिना जाता है, जिसने अपनी वीरता और धीरतासे मुसलमानोके शासन-कालमे हिन्दू-धर्मकी बड़ी रक्षा की थी। इस समय भी सिक्ख लोग अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध हैं। गुरुनानकका जन्म क्षत्रिय-कुलमें हुआ था। उन्होंने भक्तिके साथ साथ धर्मकी रक्षाके लिये क्षात्रधर्मका भी ऐसा उपदेश दिया जिससे प्राचीन क्षात्र-तेज फिरसे प्रगट होकर अत्याचारियोंके नाशका कारण बन गया। सिक्ख-सम्प्रदायकी विशेषता यह है कि इसमे जाति-भेद नही है।

अब इन जुदे जुदे शास्त्रोंके समयका कुछ वृत्तान्त मुझे तुमसे कहना चाहिये। किन्तु उस समयका केवल कोरा वृत्तान्त सुनाना तुम्हें रोचक न होगा, अतएव उस समयके कुछ चित्र तुम्हारे समक्ष रखूंगा जो मेरे विचारमें तुम्हें अवश्य रुचिकर होंगे।

आलोचना=निरूपण, विचार।

दिग्दर्शन=कुछ विचार करना।

---

[३]

विश्वामित्र और नदियां

[विश्वामित्र वेदकालके ऋषि हैं। वैदिक कालमें भारतवर्ष इतना उन्नति-शिखरपर चढ़ा हुआ था कि उस समय गुणकर्मानुसार जाति मानी जाती थी। विश्वामित्र ऋषिका दृष्टान्त ही लीजिये, यह अपने तपोबलसे क्षत्रिय-जातिसे ब्राह्मण-जातिको प्राप्त हो गये और राजर्षिके स्थानमे ब्रह्मर्षि कहलाने लगे। वे बिआस (विपाश्) और सतलज (शुतुद्री) नदीके किनारे खड़े है। नदियां दोनों किनारोंके बीच पूर्ण जलसे बह रही हैं। ऋषि और उनके साथियोंको नदी उतरनेकी इच्छा है। ऋषि नदीसे प्रार्थना करते हैं। ऋषि और नदीके बीचका यह निम्नलिखित संवाद है।]

विश्वामित्र—(मन ही मन) पर्वतकी गोदसे निकली हुई ये दो नदियां विपाश् (बिआस) और शुतुद्री (सतलज) पानीसे भरी हुई दौड़ी चली जाती हैं। ये घुड़सालमेंसे छूटी, हिनहिनाती हुई घोड़ियो अथवा नाद करती हुई सफेद गौ माताओंके सदृश लगती हैं।

(नदियोंको सुनाते हुए)

इन्द्रसे भेजी हुई, उसके आज्ञानुसार ही चलनेकी इच्छा करती हुई, तुम समुद्रके प्रति जाती हो।

सबकी बड़ी माता सिन्धु (शुतुद्री) के पास मैं आया हूं। मैं

सुन्दर विशाल विपाशके समीप आया हूं। जैसे गायें बछड़ेकी ओर रांभती हुई जाती हैं वैसे तुम दौड़ती और शब्द करती हुई समुद्रके प्रति जाती हो। मैं तुम्हें नही रोकूंगा।

नदियां—हां, पानीसे भरपूर हम अपने मिलनेके स्थान समुद्रकी ओर जा रहो हैं। समुद्र ही हमारा ईश्वरसे नियत किया हुआ मिलनेका स्थान है और यदि एक बार हमे उस ओर जानेकी वह आज्ञा करता है तो हम पीछे फिरती नही! कहो ऋषि! तुम हमें किस लिये बुलाते हो, तुम्हें क्या करना चाहिये?

विश्वामित्र—माताजी! ठीक तुम परमात्माकी नियत की हुई **सत्यकी सीधी रेखा**पर ही चलती हो, पर कृपा कर यदि तुम मेरे अनुरोधसे घड़ीभर अपना दौड़ना बन्द कर दो तो अच्छा होगा। मैं कुशिक राजाका पुत्र हूं और बहुत भक्तिसे तुम्हारी रक्षा और कृपाका वरदान मांगता हूं।

नदियां—हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्रदेवने हमे पर्वत चीरकर उसकी गुफामेसे निकाला है। वृत्र नामक दैत्यने हमे चौतरफसे घेर रखा था किन्तु इस सारे जगत्के उत्पन्न करनेवाले और चलानेवाले इन्द्रदेव हमे बाहर ले आये। उनकी इस सृष्टिकी चलानेवाली आज्ञामें रहकर ही हम चलती हैं। इन्द्रदेवका यह स्तुतियोग्य पराक्रम है कि वज्रसे उन्होने वृत्र और उनके आसपास बैठनेवाले साथियोंको मार डाला। यही कारण है कि हमारा जल, जो सदा चलता ही रहता है, बहने लगा।

विश्वामित्र—हे स्वर्गमे बसनेवाली, स्वर्गसे उतरकर आई

हुई वहनो! मैं इस रथमे बैठकर बहुत दूरसे आया हूं। यह स्तुति सुनकर मेरे लिये तुम नीचे झुको तो मैं पार जाऊं। तुम्हारा प्रवाह मेरे रथके नीचे रहे तो इतना ही वस होगा।

नदियां—हे ऋषि! तुम्हारा कहना हमने सुना। तुम इस रथमें बैठकर दूरसे आये हुए हो, इसलिये हम झुक जाती हैं।

(नदियोंका जल उतर गया)

विश्वामित्र—तो यह भारत-कुलकी सन्तानें इन नदियोके पार उतरेंगी। ये लोग पराक्रमी हैं, भूमिकी खोजमें निकले हैं। जैसे इन्द्रकी भेजी हुई तुम जाती हो और तुम्हें कोई पीछे हटा सकता नहीं, वैसे वे भी इन्द्रके भेजे हुए जायं और विजय प्राप्त कर। उनपर तुम प्रसन्न रहो, यही मेरी प्रार्थना है। उस ऋषिपर नदियां प्रसन्न हुईं। पराक्रमी भरत नदी-पार उतरे। तत्पश्चात् ऋषिने फिर नदियोंकी स्तुति की, कि तुम फिर जलसे भरपूर हो जाओ और वेगसे वहती रहो कि हमें बहुत धन-धान्य मिले।

बालको! तुम्हें इस ऋषि और नदियोंकी वात करते सुन अचरज होगा। हमारे प्राचीन ऋषि लोग इस प्रकारसे सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, अरुणोदय, अग्नि आदि इस सृष्टिके अद्भुत और सुन्दर पदार्थोंमें परमेश्वरका वास देखते थे। इस भांतिका उन्हें अनुभव होता था कि मानों परमेश्वर उनके द्वारा बोलते और उन्हें चलाते हों। इसकारण वे "ऋषि" (संस्कृत दृश् क्रियापदके आधारपर) अर्थात् देखनेवाले कहलाते है।

आकाशमे जैसे तारे चमकते हैं वैसे ही ये सारे पदार्थ परमेश्वरके तेजसे उनकी दृष्टिमें चमकते थे। इसलिये उन पदार्थों-

को और उनमें वास करनेवाले प्रभुके रूपको वे 'देव' (देव अर्थात् दीप्तिवाला, संस्कृत दिव धातुके आधारपर) कहकर पुकारते थे।

---

[४]

एक ही परमात्माके अनेक नाम

देवोंमें मुख्य

(१) *इन्द्र*—जो अपने वज्रके द्वारा पर्वतोकोचीरकर दैत्योसे बांधी हुई गायको छुड़ाता है, दैत्योको मारता है, आर्य्य लोगोंको युद्धमें जिताता है, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इन्द्र है। इन्द्र और दैत्योका युद्ध तो आकाशमे होते हुए बादलोका तूफान और गर्जनका द्योतक है, वज्र बिजली और पर्वत बादलोका द्योतक है। उन पर्वतोमे बँधी हुई गायें वर्षासूचक हैं।

(२) *वरुण और मित्र*—सारे विश्वमे व्यापक पाप-पुण्यके देखनेवाले देव वरुण हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं। रात्रिमे जब सब तरफ अन्धकार छाया रहता है तब भी यह देव जागते रहते हैं। यदि दो मनुष्य कहीं चुपचाप कुछ बात करते हो तो वहां भी यह तीसरा रहता ही है। दिनमे हमारे मित्रकी तरह हमे बुलानेवाले और कामोमे सहायता करनेवाले परमेश्वर मित्र नामसे पुकारे जाते हैं।

(३) *सूर्य-सविता*—यह इस जगत्के सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले और चलानेवाले देव हैं।

(४) *विष्णु* — यह देव विश्वमें व्यापक हैं। इनका धाम मधुरता, सुख और तेजसे भरपूर है।

(५) *रुद्र*—यह आंधी और प्रज्वलित अग्निमे दिखाई देनेवाला परमेश्वरके क्रोध और प्रचण्डताका रूप है।

(६) *अग्नि*—यह घर घरमें प्रकाशमान परमेश्वरका रूप है। इसमें हवन की हुई वस्तु देवताको मिलती है, अतएव यह देवताओंका होता अर्थात् बुलानेवाला कहा जाता है।

(७) *यम*—यह हमे नियममे रखनेवाला, मृत्युके पश्चात् परलोकका देवता है।

(८) *अदिति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, पुरुष*— अब कुछ ऊंची दृष्टिसे देखो। यह आकाश अखण्डरूपसे व्याप्त है, इसके टुकड़े हो नहीं सकते। यह सूर्य आदिकी माता 'अदिति' उस परमेश्वरका अखण्ड-अनन्त स्वरूप है। उस परमेश्वररूप तेजके अण्डेमेंसे यह सारा जगत् मानो पर फड़फड़ाकर निकला है, अतः उस परमेश्वरका नाम "हिरण्यगर्भ" है। इस जगत्का रचनेवाला वही है, इसी कारण उसे विश्वकर्मा कहते हैं। वही इस जगत्में आत्मरूपसे भरपूर है, इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं।

ऋषि लोग इन देवतारूपी प्रभुकी शक्तियोंकी स्तुति करते अग्निमे उनके निमित्त आहुति देते और उनसे धन-धान्य, पशु और कुटुम्बका सुख मांगते थे। इसके साथ ही वे यह मानते थे कि यह विश्व एक सत्यकी ही सीधी रेखापर चलता है।

यह विश्व कहांसे आया, किसने रचा, किस रीतिसे रचा गया, इत्यादि जगत् और ईश्वरसम्बन्धी गम्भीर प्रश्नोंपर वे विचार करते थे।

---

[५]

जनक राजाकी सभा

पूर्वकालमें यहांके राजा धर्मात्मा और केवल संसारकी भलाईके लिये ही राज्य करनेवाले होते थे। ऐसे अनेक राजा हो गये हैं। उनमेंसे मिथिलामें जनक नामके एक महाज्ञानी राजा थे। वे सिंहासनपर बैठ उत्तम रीतिसे राजकाज करते थे। उनके ज्ञानकी कीर्त्ति ऐसी फैली हुई थी कि दूर दूर देशोंके ब्राह्मण भी उनके पास ज्ञान सीखने आते थे। उस समय राजाओंके यहां बड़े बड़े यज्ञ हुआ करते थे, जिनमें विद्वान् लोग मिलकर आपसमें प्रश्न पूछकर परमेश्वर-विषयक चर्चा चलाते थे। जनक राजाने भी एक ऐसा यज्ञ किया और ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी। इस यज्ञमें ठेठ कुरुपाञ्चाल देशतकके ब्राह्मण एकत्र हुए थे। जनक राजाको यह जाननेकी इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ विद्वान् कौन है? अतएव उन्होंने एक हजार गायें एक बाड़ेमें भर और उनमेंसे हरेकके सींगमें मुहरें बांधकर उन ब्राह्मणोंसे कहा, "महाराज! तुम्हारे मध्यमें जो ब्रह्मिष्ठ (परमेश्वरके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ) हो वह इन गायोंको ले जाय।" किसी ब्राह्मणकी यह करनेकी हिम्मत न हुई। केवल

याज्ञवल्क्यने अपने शिष्यसे कहा, "अरे सोमश्रवा! इन गायोंको हांक ले जाओ।" ब्राह्मण याज्ञवल्क्यपर कुपित होकर बोले, "अरे याज्ञवल्क्य! क्या तू ब्रह्मको सबसे अधिक जाननेवाला है?" जनक राजाके यज्ञमें अश्वल नामक ब्राह्मण होता था,उसने आकर पूछा, "याज्ञवल्क्य! क्या तुम ब्रह्मको सबसे अधिक जानते हो?" याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, "ब्रह्मको कौन जान सकता है? उसे जाननेवाला जो पुरुष होगा उसे तो हम नमस्कार करते हैं,हमें तो केवल ये गायें चाहिये।" अश्वलसे लेकर यज्ञमे एकत्र सभी ब्राह्मणोने याज्ञवल्क्यसे लगातार प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्यने उनके उत्तर दिये। इन प्रश्न करनेवालोंमें वाचक्नवी नामकी गर्गगोत्रकी(गार्गी)एक स्त्री भी थी। इस बातसे यह ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी परमेश्वर-सम्बन्धी कठिन प्रश्नोंकी चर्चामे भाग लिया करती थीं। इस गार्गी वाचक्नवीने याज्ञवल्क्यसे कहा, "याज्ञवल्क्य! मैं तुमसे दो प्रश्न पूछती हूं और यदि तुम उनका उत्तर दे सके तो निःसन्देह यहांपर एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं कि जो तुम्हें जीत सकेगा। एक प्रश्न यह है कि जो इस गगनके पार और इस पृथ्वीके नीचे रहता है, जिससे बीचमें यह गगन और पृथ्वी लटके रहते हैं, जो भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालोमें रहता है, वह किस वस्तुमें ओतप्रोत है?" याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"आकाशमे। हमसे बाहर यह दृश्यमान सारा जगत् आकाशमें ओतप्रोत है, यह कथन बिल्कुल ठीक है।" गार्गीके एक प्रश्नका इस बातसे यथार्थ उत्तर मिल गया। तत्पश्चात् गार्गीने याज्ञवल्क्यसे नमस्कार कर

कहा—"ऋषिजो! अब मैं दूसरा प्रश्न पूछती हूं, जिसे सावधान होकर सुनिये।"

फिर गार्गीने दूसरा प्रश्न पूछा कि "अच्छा! तो आकाश किसमे ओतप्रोत है?" याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"अक्षरमे। अक्षर—अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता—ऐसा जो ब्रह्म परमेश्वर उसमे यह आकाश ओतप्रोत है। हे गार्गि! यह अक्षर न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ है। उसके आंख नही, वाणी नहीं, मन नहीं, कुछ उसके अन्दर नही और न कुछ बाहर। उस अक्षरकी आज्ञामे ये सूर्य चन्द्रमा अपने अपने स्थानोमें स्थित रहते हैं—उसीकी आज्ञामें गगन और पृथ्वी दोनो बंधे रहते हैं। कितनी ही नदियां इस बरफसे ढंके हुए पर्वतसे निकलकर पूर्वकी ओर बहती हैं, कितनी ही पश्चिमकी तरफ बहती हैं, सब उसके आज्ञानुसार बहती हैं। उसके सिवाय कोई देखनेवाले नही, उस अक्षरमें यह आकाश ओत-प्रोत है। उसे जिसने जान लिया वह "ब्राह्मण" है, और जो नहीं जानता वह "कृपण"—दयाके योग्य अज्ञानी है।"

इस प्रकार सब देवताओंके स्थानमे केवल एक अक्षर, अविनाशी परमेश्वरकी चर्चा सुन शाकल्य नामका एक ब्राह्मण याज्ञवल्क्यसे पूछने लगा—"याज्ञवल्क्य! कितने देवता है?" याज्ञवल्क्यने यही प्रतिपादन किया कि अन्तमें सब देवताओका समावेश एक परमात्मामे ही होता है, और यद्यपि उनके नाम जुदे जुदे हैं तथापि वे परमात्माके ही भिन्न भिन्न रूप हैं।

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य बहुत बार जनक राजाके पास

जाने लगे। जो परमज्ञानी राजाको भी ज्ञान दे सके, ऐसे उस समयमे वे एक ही ऋषि थे। इसलिये जब कभी वे आते थे तभी राजा राज्यासनसे उठ, उनके समक्ष बैठते और परलोक परमात्मा आदि विषयपर चर्चा चलाते थे।

होता=यज्ञमे देवताओको बुलानेवाला। गगन=आकाश।
समावेश=समाना। ओतप्रोत=गुथा हुआ।
अणु=बहुत छोटा। प्रतिपादन=निरूपण।

---

[६]

गौतमबुद्ध और ब्राह्मण

ऋग्वेदसंहितासे उपनिषद्पर्यन्तकालमे ब्राह्मण और क्षत्रियोने परमेश्वरके विषयमे और उसे प्राप्त कर लेनेके मार्गके सम्बन्धमें विशेष रूपसे बहुत विचार किया और आपसके वाद-विवादसे इस विषयमे जितना ज्ञान हो सकता था, उतना उन्होने उपलब्ध करनेका प्रयत्न किया। वाद-विवादसे बहुत ज्ञान बढ़ता है और मनमे यह सन्तोष हो जाता है कि अमुक विषयमे कुछ विचारनेको बात बच नहीं रही। किन्तु कुछ काल व्यतीत होनेपर यह वाद-विवाद केवल शब्दोंका युद्धमात्र हो गया, और ऋषियोके बतलाये हुए मार्ग आंख मीचकर चलनेकी रूढ़ियां बन गये, अर्थात् पूर्वजोके उपदेशके मर्मको न समझ लोग सिर्फ लकीरके फकीर हो गये। इस नये युगमे जगत्के जगानेवाले दो बड़े उपदेशक जन्मे—एक महावीर स्वामी और

दूसरे गौतमबुद्ध। बुद्ध भगवानके हिंसा-निषेधका रहस्य और उनकी स्तुतिका वर्णन गीतगोविन्दमे जयदेव कविने बड़े ही सुन्दर शब्दोमें किया है—

निन्दसि यज्ञ विधे रहरहः श्रुतिजातम्।
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्केशवधृतबुद्धशरीर।
जय जय देव हरे।

बुद्ध भगवानके सम्बन्धमे कहनेयोग्य और भी बहुतसी बातें हैं, पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि बौद्धोके जो पूज्य हैं वे ही हमारे अवतार हैं। और नित्य नैमित्तिक कामोमे "बौद्धा-वतार" का नाम लिये विना हम सनातनधर्मावलम्बियोके किसी कर्मका संकल्पतक नही होता। आर्यधर्म, आर्य-संस्कृति, सांस्कृतिक एकता आदिके प्रचारके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष और बौद्ध देश परस्परकी समान प्राचीन संस्कृतिका अवलोकन कर नवीन जीवन लाभ करें।

महावीर स्वामी और गौतमबुद्धके सिद्धान्तोके विषयमे कुछ आगे कहा जायगा। इस स्थानमे तो केवल मैं तुम्हे गौतमबुद्ध और ब्राह्मणोंकी एक कथामात्र सुनाऊंगा जिससे वह समय कैसा था इस बातका तुम्हें परिचय होगा।

पहले किसी नगरमे वशिष्ठ और भरद्वाज ऋषिके कुलके दो ब्राह्मण रहते थे। उन दोनोमे ब्रह्म और उसकी प्राप्तिके विषयमे विवाद चला। एक कहता था कि अमुक आचार्यका कहना ठीक है और दूसरा कहता था कि अमुक आचार्यका कथन ठीक है।

इससे कुछ निर्णय न हो सका, इसलिये दोनोने सोचा कि "चलो, हम बुद्धभगवानके पास चलें और उनसे पूछें। कहते हैं कि उनके सदृश ज्ञानी और साधु महात्मा दूसरा कोई नहीं है अतः वह हमें ठीक बात समझायेंगे।" दोनो गौतमबुद्धके पास गये और उन्होंने प्रणाम कर कहा—महाराज! परमेश्वर और उसकी प्राप्तिके विषयमें ब्राह्मणोंमें जुदी जुदी तरहके मत प्रचलित हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है। अतएव उनमेंसे किसका कथन ठीक है, यह हमें समझ नहीं पड़ता। इसलिये क्या ठीक है, यह हमें बतलाइये।

गौतमबुद्ध—भाइयो! उनमेंसे किसीने तो परमेश्वर देखा ही होगा।

वशिष्ठ—नहीं, ऐसा तो मालूम नहीं होता।

बुद्ध—उनके गुरुओंने कदाचित् देखा होगा?

वशिष्ठ—उनके गुरुओंने देखा हो यह भी हमें प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध—उनके गुरुओंके गुरुने कदाचित् देखा हो?

वशिष्ठ—उन्होंने भी देखा हो ऐसा हमें नहीं मालूम होता।

बुद्ध—तब तो तीन वेदके ज्ञाता ब्राह्मण भी, जिस वस्तुको उन्होंने कभी नहीं देखा, जाना नहीं, उसकी बातें करते और उस मार्गको बतलाते हुए देखनेमें आते हैं।

वशिष्ठ—ऐसा ही है।

बुद्ध—यह तो अब अन्धपरम्परा हुई। न आगेका मनुष्य देख सकता है, न बीचका देख सकता है, न पिछला ही देख

सकता है। तीनो वेदोमे निपुण ब्राह्मणोंकी वाणी भी केवल शब्दोका शुष्क आडम्बरमात्र है। वशिष्ठ! एक मनुष्य चौराहेके मैदानमे बैठकर नसैनी बनाता है, और उससे यह पूछा जाता है कि नसैनीसे वह किस मकानपर चढ़ेगा तो वह उत्तर देता है कि उस मकानको मैं जानता ही नही! वह नसैनी कैसी और कितनी बड़ी बनानी चाहिये इत्यादि क्या वह मनुष्य जान सकता है? अब मैं एक दूसरा सिद्धान्त देता हूं। देखो, यह अचिरा नामकी नदी दोनो किनारोमे मध्यमे प्रवाहसे बहती है, और सामनेवाले किनारेपर जिसे काम है वह मनुष्य यदि इस किनारेपर खड़ा खड़ा चिल्लाये कि 'ओ सामनेवाले किनारे! इधर आओ, ओ सामनेवाले किनारे! समीप आओ' तो इस प्रकार हजार बार पुकारनेपर भी क्या सामनेका किनारा समीप आ सकता है वा उस किनारेपर पहुंचा जा सकता है? उस किनारेपर पहुंचनेके लिये तो उसे नावमे बैठना चाहिये और पतवार लगाकर उसे उस ओर चलना चाहिये। इसी प्रकार यदि तीन वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण भी सच्चे ब्राह्मणपनके गुणको छोड़ आलसी और मूर्ख होकर कहा करे कि 'हे इन्द्र! हम तुम्हें बुलाते हैं, हे वरुण! हम तुम्हे बुलाते हैं, तो इससे क्या लाभ है? फिर कल्पना करो कि एक मनुष्य यह जानता है कि उस किनारेपर किस भांति जाना चाहिये, लेकिन वह इस किनारेपर इतना रीझा हुआ है अथवा उसकी विचारशक्ति मायाके जालमे ऐसी जकड़ी हुई है कि वह कुछ चेष्टा नहीं कर सकता, तो अब क्या वह मनुष्य सामनेके किनारेपर जा सकता

है? नहीं, कदापि नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य यह मेरा मित्र और यह मेरा शत्रु—यह अपना और यह पराया—इस भांतिके अज्ञानकी चद्दर ओढ़कर सोया हुआ है, और जो इस दुनियांके राग-रङ्ग, पैसे-टके, स्त्री-बच्चे आदि प्रलोभनमें फँस रहा है, वह सच्ची वस्तुतक क्या पहुंच सकता है?

दूसरा गुण हो वा न हो, लेकिन जिसमे 'शील' और 'प्रज्ञा' अर्थात् सदाचार और चतुराई केवल विद्या वा बुद्धि नही, किन्तु परिपक्क ज्ञानसहित विवेक है, वही 'ब्राह्मण' है।

कल्पना करो=मानो। प्रलोभन=लुभानेवाली वस्तुएं।

---

[७]

सूत पौराणिक

वस्तुनः पुराणोंमे इतिहास और महापुरुषोंकी जीवनियां हैं। आध्यात्मिक गूढ तत्वोंको आलङ्कारिक कथाओंके रूपमे समझाया गया है, किन्तु पीछेसे स्वार्थी लोगोंद्वारा बहुतसे क्षेपक और अनेक अप्रमाणित कथाओंका समावेश हो गया है। इसलिये विवेकी जनोंको हंसकी भांति जलमेसे दूधका भाग भिन्न कर लेना चाहिये। केवल जो उत्तम उत्तम सारकी बात है वही ग्रहण की जानी चाहिये।

गौतमबुद्ध और महावीर स्वामीने सारे देशमें फिरकर सब लोगोंके अज्ञानके जालोंको छिन्नभिन्न कर दिया। उस समय ब्राह्मण भी शुष्क वाद-विवाद छोड़ यज्ञ-यागादिककी उपेक्षा कर

देशके धर्मको सुधारनेके लिये कटिबद्ध हो गये। प्राचीन धर्ममेंसे जितना अंश आवश्यक लगा उतना प्रचलित रखनेके लिये उन्होंने कुछ नई 'स्मृतियां' (प्राचीन वेदके कालके धर्ममेंसे जो याद रहा वह पुस्तकें) रची। उनमें समयानुकूल जो नई बात ग्रहण करने-योग्य वा सुधारनेयोग्य लगी उन्होंने उसे ग्रहण किया। प्राचीन इतिहास और कथायें उपयोगमें लेकर उनके द्वारा लोकमें धर्मका उपदेश उन्होंने आरम्भ किया।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे भिन्न लोगोंने भी धर्मके उपदेश करनेमें जो भाग लिया था उसे प्राचीन इतिहा-सोमेंसे उन्होंने खोज निकाला और सब वर्णोंके लोगोंके लिये नये और समयोपयोगी कुछ ग्रन्थ उन्होंने रचे। उन पुराने और नये इतिहास और आख्यानोंके ग्रन्थोंमें वाल्मीकि-रचित रामायण और व्यासकृत महाभारत और अठारह पुराण मुख्य हैं। जब पौराणिक कालमें "द्विज" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनसे भिन्न शूद्रवर्गके लोगोंको वेद न पढ़ाया जाता था, तब भी इन लोगोंको इतिहास और पुराण सुननेका अधिकार था। वे इन पुस्तकोंद्वारा ही वेदका ज्ञान प्राप्त करते थे।

इस प्रकार उस समयमें जुदे जुदे वर्णके लोग एक दूसरेको उपदेश करते थे। उस समयसे सूत पौराणिक हो गये हैं। यह द्विज न होते हुए भी बड़े विद्वान् थे। सब ऋषि-मुनि बैठकर इनसे शास्त्रोंकी कथायें सुना करते थे।

---

[८]

शंकराचार्य और मण्डनमिश्र

अबसे अनुमान अढ़ाई सहस्र वर्ष पहले जब इस देशमे अधिकांश मनुष्य अन्ध श्रद्धालु होने लग गये थे, तब भगवान् गौतमने निम्नलिखित उपदेशका जगत्मे प्रचार किया था —"यह संसार क्षणभंगुर और मिथ्या है, परमेश्वरका भजन वा यज्ञ-यागादिक करना व्यर्थ है,किन्तु हमारे हृदयमे सांसारिक वासना-ओकी जड़ जम रही है उसका समूल नाश होना चाहिये। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाता है वैसे अपने इस अहंकारका निःशेष होना—इसका ही नाम 'निर्वाण' है और यही उत्तम स्थिति है। निर्वाणका अर्थ तृष्णा और अहंकारका नाश है। फिर परमेश्वरको किसीने देखा नहीं, इसलिये इस जगत्को किसने उत्पन्न किया होगा, इस प्रकारका तर्कवितर्क भी निरर्थक है।" बुद्धदेवके इस उपदेशसे हजारो स्त्री-पुरुष संसार छोड़ भिक्षु और भिक्षुणी बन गये, वेद-धर्माकी क्रियाओपरसे लोककी श्रद्धा विचलित होने लगी। उस समय ब्राह्मणोने पुराने शास्त्रोंको नवीन रूप देकर और लोगोमे जिससे धार्मिक भाव बढ़े, उस प्रकारकी परमेश्वरकी भक्तिके उपदेश चारो ओर फैलाकर वेद-धर्मको फिर जागृत किया। फिर कुछ समय बीतनेपर साधारण लोग कर्मकांडमे फँस गये और अज्ञानतावश एक अद्वितीय परमा-त्माके ज्ञानकी उपेक्षा कर अनेक देवताओंकी उपासना करने लगे। किन्तु परमेश्वर है, वह एक है, और उसका ज्ञान ही

मुक्तिका सच्चा साधन है, इस सिद्धान्तके पुनरुज्जीवन करनेवाले महात्माकी आवश्यकता थी। ऐसे महात्माने दक्षिणके केरल देशमे मलावारके किनारे आठवे शतकके लगभग जन्म लिया।

बाल्यावस्थासे ही इनका मन संसार छोड़कर परमात्माका ज्ञान प्राप्त करने और उस ज्ञानका सर्वत्र उपदेश करनेकी ओर था, किन्तु वे अपनी प्रेमाकुलित विधवा माताके निमित्त कुछ कालतक जगत्के व्यवहारमे लगे रहे। यह किंवदन्ती है कि एक समय वे नदीपर नहाने गये और वहां पानीमे मगरने उनका पैर पकड़ लिया, यह देख उनकी माता घबड़ाकर चिल्ला उठी, तब शंकराचार्य्यने कहा, "माताजी! यदि तुम मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दो तो यह मगर मेरा पैर छोड़ देगा।" इस बातका तात्पर्य्य यह है कि इस संसाररूपी नदीमे हमे विषयरूप मगर पकड़े हुए हैं, जिनके मुखमेसे छूटनेके लिये वैराग्य और संन्यास आवश्यक हैं। शंकराचार्यने संन्यास तो लिया, किन्तु उनके हृदयमे दया थी, इसलिये अपनी प्रेमाकुलित माताके स्मरण करनेपर उनके पास आना उन्होने स्वीकृत किया। इस प्रतिज्ञानुसार अपनी माताके मरणके समय जब उनके बन्धु-बान्धव द्वेषसे उनका अग्निदाह भी करनेके लिये न आये तब शङ्कराचायने स्वयं संन्यासी होनेके कारण क्रिया करनेका निषेध होते हुए भी, मातृ-भक्तिसे अग्निदाह किया।

इस समयमें मण्डनमिश्र नामक वैदिक धर्मके एक बड़े कर्म-मार्गी विद्वान् थे। उनके पाण्डित्यकी कीर्त्ति चारों ओर छा रही थी। इनके परास्त किये बिना कर्ममार्गके स्थानमें ज्ञानमार्ग

चलाना असम्भव था। इसकारण शंकराचार्य फिरते फिरते मण्डनमिश्रके गांवमे आये। गांवके बाहर पनिहारियां पानी भर रही थीं,उनसे उन्होने पूछा—"माइयो! इस गांवमे मण्डनमिश्रका घर कहां है, यह बतलाओ?" पनिहारियोने कहा—"महाराज! सीधे चले जाओ और जिस घरके आंगनमे पिञ्जरोमे तोते और मैना वेद और ईश्वर-सम्बन्धी विवाद करतेहो वही मण्डनमिश्रका घर है।" मण्डनमिश्रके यहां सैकड़ों विद्यार्थी इस विषयकी रात-दिन चर्चा करते थे, इसकारण उनके पाले हुए पक्षियोको भी इसका अभ्यास हो गया था। इस पतेसे शङ्कर मण्डनमिश्रके घर पहुंचे और उस कर्ममार्गके विद्वान्‌को ज्ञानमार्गका उपदेश करना आरम्भ किया। इस विषयमे दोनो महाविद्वानोका घोर वादानुवाद चला। शास्त्रार्थमे कौन जीतेगा,यह कौन कह सकता था?

मण्डनमिश्रकी स्त्री, जो अपनी विद्वत्ताके कारण सरस्वतीका अवतार मानी जाती थी, स्वयं मध्यस्थ बनायी गयीं और यदि शङ्करकी विजय हो तो मण्डनमिश्र संन्यास लें,यह निश्चय हुआ। वादविवादमे जब शङ्करकी विजय प्रतीत होने लगी, तब सरस्वती बड़े सङ्कटमे आ पड़ी। एक ओर शंकराचार्यका पक्ष सत्य है यही उसके हृदयसे अन्तर्ध्वनि होती थी, दूसरी ओर अपने पतिको अपने मुखसे परास्त करनेका साहस कैसे हो सकता था, इस धर्म-संकटमें सरस्वतीने दोनोके कण्ठमे जयमाला पहनायी और यह कहा कि जिसके कण्ठकी माला सूख जायगी, वह शास्त्रार्थमे पराजित हुआ समझा जायगा। मण्डनमिश्रकी माला सूख गयी, वे हार गये और संन्यासी हुए। शङ्कराचार्यके शिष्योमें संन्यास

लेनेके पश्चात् उनका नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। फिर शङ्करने हिन्दुस्थानमें स्थान स्थानपर फिरकर परमात्माके ज्ञानका उपदेश किया और उपदेशकी रक्षाके लिये चारो दिशाओंमे चार गद्दियां स्थापित की। बत्तीस वर्षकी अवस्थामे ये महात्मा विदेह कहे जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह संसारका नियम है कि मनुष्योंका चित्त प्रायः रजोगुण और तमोगुणकी ओर झुकता रहता है, जिसका फल यह होता है कि अज्ञान और प्रमादके कारण कभी नास्तिकता और कभी अन्धश्रद्धादि दुर्गुण मनुष्योमे आ घुसते हैं। इसलिये उनको सुमार्गमे लानेके लिये समय समय-पर महात्माओंको देशकालानुसार भिन्न भिन्न प्रकारके उपदेश देने पड़ते हैं। यह उपदेश कभी कर्म-प्रधान होते हैं और कभी भक्ति-प्रधान और कभी निवृत्ति-प्रधान और कभी प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं। किन्तु उन उपदेशोमे वेद-उपनिषदादि प्राचीन शास्त्रोंके तत्वोंकी ही प्रधानता रहती है।

क्षणभगुर=नाशवान। नि.शेप=नाश, शेष न रहना।
परास्त=पराजित, हारना। किंवदन्ती=लोग कहते है।

---

[६]

रामानन्द और उनके शिष्य

शङ्कराचार्यके पश्चात् लगभग ढाई सौ वर्ष बाद रामानुज नामक एक आचार्य हुए। उन्होंने ज्ञानके साथ कर्म और भक्तिका सम्बन्ध घनिष्ठ और आवश्यक बतलाया। उनकी शिष्यपरम्परामे डेढ़ सौ वर्ष व्यतीत होनेपर रामानन्द हुए। उन्हें रामानुजाचार्यके

सम्प्रदायमें खानपान और जातिपांतिके जो बहुत भेद हो गये थे, वे उचित न लगे। अतएव उन्होने काशी जाकर एक जुदा मठ स्थापित किया। ये रामके भक्त थे, भक्ति और ज्ञान यही परमेश्वरकी प्राप्तिके सच्चे साधन है, यह इनका उपदेश था। हिन्दुस्थानमें धर्मका उपदेश संस्कृतके बदले देशकी प्रचलित भाषामें—अर्थात् अशिक्षित लोग भी समझ सकें उस भाषामें—भलीभांति होने लगा। चारो ओर भक्त और साधुजन उत्पन्न हुए। एक बार रामानन्दजी दक्षिणकी यात्रामें जाते थे, वहां मार्गमें एक गांवके पास उन्होने विश्राम किया। गांवके बहुतसे स्त्री-पुरुष उनकी कीर्त्ति सुन उनके दर्शन और सत्कार करने आये। उनमें एक स्त्री थी। उसकी सेवासे प्रसन्न हो रामानन्दने उसे आशीर्वाद दिया कि—"पुत्रवती हो।" पर उस स्त्रीका पति तो काशी जाकर उनका स्वयं ही शिष्य होकर संन्यासी हो गया था, इस बातका जब उन्हें परिचय मिला तभी वे काशी लौट आये और अपने शिष्य संन्यासीसे पूछा, "संन्यासी होनेके पहले क्या तुमने अपनी स्त्रीसे आज्ञा ली थी?" उसने निषेध किया। रामानन्दने तुरन्त उसे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने और घरमें रहकर परमेश्वरकी भक्ति करनेका उपदेश दिया। उस शिष्यने गुरुके आज्ञानुसार घरमें पुनः प्रवेश किया। उसके पुत्र एक बड़े मराठी ग्रन्थकर्त्ता और साधु हुए।

यह कहा जाता है कि रामानन्द सदा सूर्योदयके पहले गङ्गास्नानके लिये जाया करते थे। एक बार उनके मार्गमें पड़े हुए एक मनुष्यपर उनका पैर पड़ गया। इस घटनासे दुःखित

होनेके कारण उनके मुखसे सहसा "राम! राम!" ये शब्द निकले। उस पददलित मनुष्यके लिये यह उद्गार रामनामका मन्त्र हो गया और रामानन्द उसके गुरु हुए। यह मनुष्य हिन्दुस्थानका प्रसिद्ध ज्ञानी साधु कबीर था जो जातिका जुलाहा था और जिसे हिन्दू-मुसलमानमे किसी भी तरहका भेदभाव न था।

रामानन्दकी ही शिष्यपरम्परामें मीराबाई, तुलसीदास आदि हुए। तुलसीदासकृत रामायण उत्तर हिन्दुस्थानमे घर घर प्रेमसे गाई जाती है।

भाषा शाखा है सही संस्कृत सोहीं मूल।
मूल रहत है धूलमें शाखामें फल फूल॥

पददलित=पैरसे पिचा हुआ। उद्गार=अचानक बोले हुए शब्द।

---

[१०]

ईश्वर सर्वशक्तिमान है

गुरुजी विद्यार्थियोको सैर करानेके लिये गांवके बाहर ले जाते हैं। यह सावनका महीना है। रातको मेह बरसनेसे जङ्गलकी झाड़ियां उदय होते हुए सूर्यके प्रकाशमे हरीभरी नजर आती हैं। आसपासके खेतोमे बाजरेके डंठल निकल आये है। चारो ओर सृष्टि-सौन्दर्य और प्रभुकी महिमाके सिवा और कुछ नही दीखता। ऐसे ही समयमें और ऐसे ही स्थलमे बालकोको धर्मका शिक्षण करना चाहिये। गुरुजी ऐसे प्रसङ्गपर कभी न चूक सकते थे। खेतकी मेंड़के पास ऊंची भूमि थी, जहां सब

खड़े हो गये। एक विद्यार्थी चारो ओर नज़र फेरकर स्वाभाविक रीतिसे बोल उठा "अहा यह सारा कैसा सुन्दर दृश्य है!" सबके हृदय आनन्दसे उछलने लगे, सबने हृदयसे ईश्वरको नमस्कार किया। गुरुजीने धर्म-शिक्षणका काम आरम्भ किया।

गुरुजी—बालको! आजसे हम हिन्दू-धर्मके तत्वोंके विषयमें बातचीत शुरू करेंगे और इसमे हमारा पहला विषय ईश्वर होगा। कारण कि ईश्वरपर और उस ईश्वरको हम कैसा मानते है, इसपर ही हमारे धर्मका और उसके स्वरूपका आधार है।

उपनिषद्‌मे ईश्वरको व्याख्या इस प्रकारसे की गई है:—

"जिसमेसे ये समस्त पदार्थ उत्पन्न होते है, जिसके द्वारा उत्पन्न होकर ये जीवित रहते है, जिसके प्रति ये जाते है, जिसमें इनका प्रवेश होता है, वही ईश्वर है।"

ये चन्द्र, सूर्य, तारागण उसके तेजहीसे प्रकाशमान है। हरेक पदार्थ अपने अपने स्थानमे रहकर अपना कार्य्य कर रहा है। यह रचना, यह प्रताप परमेश्वरका ही है। परन्तु इस विश्वके तरह तरहके पदार्थोंमे वह भांति भांतिके रूपसे दिखाई देता है। देखो, इस पृथ्वीमे हम बीज बोते हैं, बरसातका पानी उसे सींचता है, सूरज गरमी देता है, तत्पश्चात् उसपर ऋतुओंकी वायु चलती है। फिर बीजमे अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुरमे डंठल उगते हैं, यह सब कौन करता है?

हरिलाल—ईश्वर करता है।

मतिलाल—गुरुजी महराज ! क्या यह नहीं कह सकते कि इस पृथ्वीको सूर्य, पवन आदि हराभरा करते हैं ?

गुरुजी—ऐसा कह सकते हैं, किन्तु इन सब पदार्थोंमे जो शक्ति है वह ईश्वरकी है। परमात्माके बिना ये पदार्थ कुछ भी नही कर सकते। इन पदार्थोंको और इनमे बसनेवाली ईश्वरकी शक्तियोको 'देव' कहा करते थे। ईश्वर तो सब देवताओका देवता है, सब शक्तियोकी शक्ति है इस बातपर मै एक छोटीसी कथा कह सुनाता हूं। पूर्व समयमे दैत्य और देवोका युद्ध हुआ, उसमे अपने परमाराध्य देव ईश्वरके बल-भरोसे देवता लोग जीते। वास्तवमे यह ईश्वरकी ही जीत थी, किन्तु देवता लोग तुच्छ अभिमानसे फूल गये और यह मानने लगे कि यह हमारी ही जीत है—हमारी ही महिमा है। ईश्वर इसे जान गये और एक यक्षका रूप धारण कर सामने आ खड़े हुए। देवता लोगोने उन्हें पहचाना नहीं। ये परस्पर विचार करने लगे कि यह कौन होगा। किसीको कुछ न सूझ पड़ा। फिर उन्होंने अपनेमेसे एक अग्निदेवसे कहा.—"अग्निदेव! तुम जाओ, तुम्हें तीनो लोक जाने हुए हैं, तुम निश्चय करो कि यह कौन है ?" अग्निदेवने कहा:—"अच्छा।" फिर अग्निदेव उस यक्षरूपधारी ईश्वरके समीप गये। यक्षने उनसे पूछा, "तुम कौन हो?" अग्निदेवने जवाब दिया—"मैं अग्नि हूं।" यक्षने पूछा, "तुझमे क्या शक्ति है?" अग्निने उत्तर दिया, "मुझमें तो ऐसी शक्ति है कि मैं यह जो कुछ पृथ्वीपर नजर आता है,इस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूं।" यक्षने उसके पास तृण रखकर कहा, "इसे

जलाओ।" अग्निदेव इस तिनकेपर अपने भरसक बलसे दौड़े, किन्तु इतनेसे तिनकेको वह जला न सके। अग्निदेव हार मानकर वहांसे लौटे और देवताओंके पास जाकर कहा, "यह यक्ष कौन है, इसे मैं न जान सका।" फिर देवताओंने वायुदेवसे कहा, "वायुदेव! तुम जाकर निश्चय करो कि यह यक्ष कौन है।" वायुदेवने कहा, "अच्छा।" वायुदेव उस यक्षके पास गये। यक्षने पूछा, "तुम कौन हो?" वायुदेवने जवाब दिया, "मैं वायु हूं।" यक्षने पूछा, "कहो तुममें क्या शक्ति है?" वायुदेवने उत्तर दिया कि मैं पृथ्वीपरकी सभी वस्तुओंको खींचकर ले जा सकता हूं। यक्षने उनके पास तिनका रखकर कहा, "लो इसे खींच ले जाओ।" वायुदेव उसपर बड़े वेगसे झपटे, किन्तु इतनेसे तिनकेको वह न उड़ा सके। वायुदेव लौटे और देवताओंसे जाकर कहा, "यह यक्ष कौन है, इसे मैं न जान सका।"

फिर देवताओंने इन्द्रसे कहा, "इन्द्र महाराज! तुम जाओ और यक्षका पता लगाओ।" इन्द्रने कहा, "अच्छा।" इन्द्र उस यक्षकी तरफ दौड़े, किन्तु वह यक्ष अन्तर्ध्यान हो गया, और जहां वह यक्ष खड़ा था वहां एक स्त्री खड़ी हुई देख पड़ी। इसका नाम उमा था और वह बहुत रूपवती थी। इन्द्रने उससे पूछा, "यहां जो यक्ष खडा था, वह कौन था?" उसने कहा, "वह स्वयं ईश्वर था। उस ईश्वरकी जयसे ही तुम्हारी जय है, उसकी महिमासे ही तुम्हारी महिमा है।" इन्द्रने ईश्वरको जानकर देवताओंसे उस बातको कह डाला।

इस प्रकार गुरुजीने बालकोंसे एक प्राचीन कथा कही और

पूछा, "बालको! इस कथासे तुम क्या समझे?" बालकोमेंसे वसन्तलालने उत्तर दिया, "ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है, अग्नि, वायु आदि इस जगत्मे जो जो बलवान् पदार्थ देख पडते हैं, वे सब ईश्वरहीकी शक्तिसे अपना अपना काम करते है।"

गुरुजी—ठीक, कहो अब किसीको और कुछ पूछना है?

मतिलाल—गुरुजी महाराज! ये सब पदार्थ किसमेसे उत्पन्न हुए होगे?

गुरुजी—तुम्हारा सवाल अच्छा है, किन्तु उसके जवाब देनेके लिये काफी समय नही रहा, इसलिये इस सवालको हम कल ले सकेंगे।

अन्तर्ध्यान=लोप हो जाना।
महिमा=महत्व।
उमा=इस विश्वमे दिखाई देनेवाली ईश्वरकी सुन्दर शक्ति।
सृष्टि-सौन्दर्य=प्रकृतिकी सुन्दरता, कुदरतकी खूबी।
धर्म-शिक्षण=धर्मका उपदेश।
देव=चमकती हुई ईश्वरकी शक्ति।
यक्ष=मनुष्य और देवताओंके बीचके दरजेके जीव।

---

[११]

सारे पदार्थ ईश्वरके ही रूप हैं

आज एक बड़े बरगदके वृक्षके नीचे धर्मके शिक्षणके लिये कक्षा बैठी है। प्राचीन कालमे जब ऋषि लोग आश्रम बनाकर रहते और सैकड़ो विद्यार्थियोको अपने आश्रममे बसाते, पालते

और विद्या पढ़ाते थे तब बहुत बार ऐसे किसी वृक्षके नीचे गुरु-शिष्यकी मण्डली बैठा करती थी और उनके बीचमे सवाल-जवाब चलते थे।

गुरुजी—कल मतिलालका क्या प्रश्न था?

मतिलाल—परमेश्वरकी ही शक्तिसे यह समस्त विश्व चलता है, पर इस जगत्को परमेश्वरने किस वस्तुमेंसे पैदा किया?

गुरुजी—अपनेमेंसे। उसे जगत्की सृष्टिके लिये बाहर कुछ भी लेने नही जाना पड़ता है। घर बनानेवालेको पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि लेने जाना पड़ता है; क्योंकि ऐसे कामके लिये परमेश्वरने जो साधन रखे हैं, उनका ही केवल उपयोग वह कर सकता है। उसकी शक्ति परमेश्वर जैसी अनन्त-असेय नही कि उसे बाहरके साधनोंकी आवश्यकता न हो, किन्तु परमेश्वर तो अतुल शक्तिशाली होनेसे सब कुछ अपनेमेसे उत्पन्न कर सकता है। इस प्रसङ्गके अनुसार मैं एक प्राचीन पुस्तकमेसे कथा कहता हूं, तुम उसे सुनो :—

पूर्वकालमे ऐसे ही एक बरगदके नीचे उद्दालक नामक ब्राह्मण कुटी बनाकर रहता था। ब्राह्मण विद्वान् था, पर उसके लड़केका जी पढ़नेमें न लगता था। आठवें वर्ष उसका जनेऊ हुआ। जनेऊ होते ही तुरन्त गुरुके घर जाकर विद्या पढ़ना, यह अपना पुराना रिवाज था। किन्तु यह लड़का बारह वर्षका होने-तक भी गुरुके घर न गया। एक दिन पिताने खिन्न होकर श्वेत-केतु (उस बालकका नाम था) को अपने सामने बिठाकर कहा, "भाई, अबतक हमारे कुलमें कोई भी बिना पढ़ा-लिखा

नहीं रहा, केवल ब्राह्मण-जातिका होनेके कारण ही ब्राह्मण कहा जाय, ऐसा कोई भी हमारे कुलमे नही हुआ। तू बड़ा हुआ, बारह वर्षका हुआ, अब तो तू गुरुके घर जाकर विद्या पढ़ आवे तो अच्छा हो।" इन कोमल, किन्तु प्रभावशाली शब्दोंसे उस बालकके मनपर बहुत असर हुआ और वह गुरुके पास विद्या पढ़ने परदेश गया। बारहसे चौबीस वर्षतक गुरुके घर रहा और अनेक तरहकी विद्या उसने भलीभांति सीखी। जब वह विद्या पढ़कर घर आया, तब श्वेतकेतु तो मानों पहलेका श्वेतकेतु ही न रहा। पहले वह अपढ़ और दब्बू था, पर अभिमानी न था। इसके बदले वह अब विद्वान्, गम्भीर, किन्तु अभिमानी हो गया। पिताने देखा कि लड़का कितनी ही विद्याओंमें निपुण हो गया है, पर उसे अभी सच्चे धर्मका—ईश्वरके ज्ञानका—शिक्षण नहीं मिला। इसलिये पिताने उसे पास बिठाकर पूछा, "श्वेतकेतु! तेरी बुद्धि तो बहुत तीक्ष्ण हो गई है, तू विद्या पढ़नेका अभिमान भी बहुत रखता है और घमण्डी भी प्रतीत होता है। देख, मैं तुझसे एक प्रश्न पूछता हूं, जिसका उत्तर दे। तूने कभी अपने गुरुसे प्रश्न किया है कि गुरुजी! ऐसा कौन पदार्थ है कि जिसके एकमात्र जाननेसे सब कुछ जाना जा सके?" श्वेतकेतुने जवाब दिया, "पिताजी! एकके जाननेसे यह सब कुछ किस रीतिसे जाना जा सकता है?" पिताने कहा, "देखो भाई, मिट्टी है। इस एक मिट्टीको यदि पूर्ण रूपसे जान लें तो मिट्टीके जो जो पदार्थ होते हैं—घड़ा, दिवला, ईंट इत्यादि—उन सबको हम जान सकते हैं।

कारण यह कि मिट्टीके बने हुए ये सारे पदार्थ भिन्न भिन्न नाममात्र है,खरी वस्तु तो मिट्टी ही है। इस प्रकार, भाई, लोहा क्या वस्तु है, यह यदि हम ठीक समझ लें तो लोहेके बने हुए पदार्थ हमारी समझमे आ जायंगे। कारण कि लोहेके भिन्न भिन्न पदार्थ तो नाममात्र ही हैं, खरी चीज तो लोहा ही है।"

श्वेतकेतु—"पिताजी ! तो मेरे गुरुओने ऐसा तो कोई भी पदार्थ नहीं बतलाया कि जिसके जाननेसे सब कुछ जाना जा सके। मुझे मालुम होता है कि उस वस्तुको वे गुरुजन स्वयं न जानते होंगे। यदि वे जानते होते तो वे मुझसे क्यों न कहते? अतएव पिताजी, आप ही मुझको बतलाइये।" पिताने कहा, "यह पदार्थ तो वह परमेश्वर ही है। जैसे मिट्टीका घड़ा, सोनेके आभूषण,लोहेकी छुरी,तलवार इत्यादि—वैसे ही ये सब पदार्थ परमेश्वरके ही बने हुए हैं। परमेश्वरकी इच्छा हुई कि "मैं एक हूं और बहुत हो जाऊं" और इस प्रकार इच्छा कर उसने स्वयं तेज, जल आदि रूप धारण किये—और यह सृष्टि हुई।" फिर पिताने पुत्रको परमेश्वर-सम्बन्धी विशेष ज्ञान दिया। कोरी विद्या पढ़कर पुत्र अभिमानी हो गया था,पर परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानसे वह नम्र बना और उसने सच्ची जाननेयोग्य वस्तुको पहचाना।

कक्षा=क्लास।

अमेय=जो मापा न जा सके।

[१२]

ईश्वरकी सत्ता जगत्के भीतर और बाहर भी है

दूसरे दिन भी उसी झाड़के नीचे धर्मशिक्षणकी कक्षा बैठी। झाड़की छाया घनी थी और पवन भी धीरे धीरे चलता था। अतः यह स्थान खुली हवामे बैठकर काम करनेके लिये अच्छा था। इसके अलावा हमारे ऋषि लोग प्राचीन कालमे ऐसे ही झाड़ोके नीचे बैठकर परमेश्वरसम्बन्धी विचार किया करते थे, यह जानकर लड़कोको यह स्थान विशेष प्रिय लगने लगा।

बालक—गुरुजी महाराज! क्या हम आज भी कलके बरगदके पास न जायंगे?

गुरुजी—चलो, तुम्हारा मन यदि वहां जानेका है तो वैसा ही करो।

सब बटकी छायामे जा बैठे। जैसे ईश्वरमेसे यह समस्त सृष्टि फैलती है, वैसे ही बड़मेसे छोटे छोटे वटवृक्ष निकले हुए थे। बड़पर बहुतसे फल निकल रहे थे, जिन्हें असख्य पक्षी बैठे खा रहे थे और बड़के नीचे भी पवन और पक्षियोसे गिराये हुए सैकड़ो फल बिखरे हुए थे।

गुरुजी—कलकी बातोमेसे किसीको कुछ पूछना हो तो पूछो।

मतिलाल—गुरुजी महाराज! श्वेतकेतुके पिताके कथना-

नुसार यदि ये सब पदार्थ परमेश्वरके ही बने हुए हों तो ये पदार्थ ही परमेश्वर हैं।

गुरुजी—नहीं, ऐसा नहीं। ये पदार्थ परमेश्वरके रूप तो हैं, किन्तु ये पदार्थ परमेश्वर नहीं। जो इस पृथ्वीमें रहता है,किन्तु जिसे पृथ्वी जानती नहीं, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वीके भीतर रहकर इसे चलाता है, वही परमेश्वर है। जो जलमें रहता है, जो वायुमें रहता है, जो चन्द्र सूर्य तारे, पशु-पक्षी मनुष्य इत्यादि ब्रह्माण्डमें भरपूर इन असंख्य पदार्थोंमें रहता है, किन्तु ये पदार्थ जिसे जानते नहीं—ये पदार्थ जिसके शरीर हैं, इन पदार्थोंके भीतर रहकर इन्हें जो चलाता है—वही परमेश्वर है।

तथापि मैंने जो मिट्टी और मिट्टीके बासनका दृष्टान्त दिया था, उसे सुनकर तुम्हें जो शङ्का हुई, वह उचित ही है। श्वेतकेतु-को भी कदाचित् शङ्का हुई होगी। अतएव उसके पिताने दूसरा दृष्टान्त देकर वह शङ्का दूर की, वैसे मुझे भी करना उचित है। बालको! वह बड़का फल ले आओ, (एक ले आया) और टुकड़े करो। टुकड़े कर देखो उसमें क्या है? (एकने उसे तोड़ा और सब इकट्ठे होकर भीतर देखने लगे, उसके अन्दर छोटे छोटे दाने देख पड़े)

बालकोंने गुरुजीसे कहा—"गुरुजी! इसमें तो छोटे छोटे दाने देख पड़ते हैं।" गुरुजी बोले—"अच्छा, अब उनमेंसे एक छोटा दाना लेकर टुकड़े करो और देखो उसमें क्या नजर आता है?" बालकोंने एक दाना लेकर तोड़ा और देखा, लेकिन वह इतना सूक्ष्म था कि कुछ भी न दिखाई दिया। फिर बालक बोले—"गुरुजी! इसके भाग करनेसे तो कुछ भी नहीं देख

पड़ता।" गुरुजी बोले—"यह समझ लो कि जिसकी बावत तुम ऐसा कहते हो कि कुछ नही देख पड़ता, उसमें ही पूरा बड़का झाड़ समा रहा है, और इसी प्रकार इस जगत्के अन्दर रहता हुआ भी जो देख नहीं पड़ता उसमे ही यह जगत् समा रहा है और उसमेहीसे वह निकला है।"

हरिलाल—पहलेसे ही यदि पिताने मिट्टी और घड़ेके दृष्टान्त देनेके बदले यह बड़का दृष्टान्त दिया होता तो कितना अच्छा होता!

गुरुजी—मिट्टी और घड़ेका, सोने और सोनेके आभूषणोका, लोहे और लोहेके शस्त्रोंके दृष्टान्त देनेका मतलब यह है कि उन उन वस्तुओंकी बनी हुई चीजोंको चाहे जितना तोड़ो-फोड़ो तो भी जिन पदार्थोंसे वे बनी हैं, वे पदार्थ तो हमेशा कायम रहगे। घड़ा फूट जायगा, पर मिट्टी नही फूटेगी; आभूषण टूट जायँगे, लेकिन सोना ज्योका त्यो रहेगा। इसी प्रकारसे यह जगत् परमेश्वरका बना हुआ है और यदि इसके टुकड़े टुकड़े भी हो जायँ तो भी परमेश्वरका नाश न होगा। लेकिन यदि यह बड़ सूख जाय वा जल जाय तो इसके बीज न रहेंगे। लेकिन बड़ और बीजके दृष्टान्तमे इतनी ही कमी है कि ये बीज और बड़ अलग किये जा सकते है, किन्तु इस प्रकार परमेश्वर और सृष्टिको एक दूसरेसे जुदा नहीं किया जा सकता।

हरिलाल—इस दृष्टान्तमे एक कमी, दूसरेमे दूसरी कमी, क्या खूब!

गुरुजी—ठीक, कोई भी दृष्टान्त परमेश्वरके विषयमे पूर्ण-

रूपसे लागू नहीं होता, यह इस बातसे मालूम होता है। हम जो जो दृष्टान्त लेते हैं, वे उसके स्वरूपको कुछ कुछ जैसे-तैसे समझानेके लिये काफी होते हैं।

शका=शक। ब्रह्माण्ड=विश्व।
दृष्टान्त=मिसाल। सूक्ष्म=बारीक, अति छोटा।

---

[१३]

ईश्वर देखनेमें नहीं आता, पर वह अनुभवगम्य है

बालक—गुरुजी महाराज! ईश्वर देख नहीं पड़ता, तो भला वह कहां रहता होगा ?

गुरुजी—इस जगत्‌के कण कणमें वह व्याप्त है। इस बातको श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुको एक अच्छे दृष्टान्तद्वारा समझाया है। पिताने कहा—"भाई, इस पानीमें एक नमककी डली डालो और प्रातःकाल उसे मेरे पास ले आओ।"

श्वेतकेतुने ऐसा ही किया और दूसरे दिन सुबह नमकके पानीका प्याला लेकर पिताके पास गया। पिताने कहा—"श्वेतकेतु! जिस नमककी डलीको तुमने पानीमें डाला है, उसे लाओ।" श्वेतकेतुने पानीमे हाथ डालकर देखा, लेकिन वह डली उसे न मिली; क्योंकि वह बिल्कुल गल गई थी, इसलिये उसने कहा—"पिताजी! वह तो नहीं है।" पिता—"अब तुम

इस पानीको ऊपरसे चखो और कहो कि कैसा लगता है?" श्वेतकेतुने चखकर कहा कि यह खारा है। पिता—"बीचमेंसे आचमनी डालकर निकालो और चखकर इसका स्वाद बतलाओ।" श्वेतकेतुने इसे भी खारा ही बताया। पिताने फिर पूछा कि नीचेसे चखकर इसका स्वाद बतलाओ। फिर भी उसने खारा ही कहा। पिता—"उस नमकको निकालकर मेरे पास लाओ।" श्वेतकेतु—"वह कैसे निकल सकता है, वह तो पानीमें नित्य घुला ही हुआ रहेगा।" पिता—"तो इसी प्रकार समझो कि परमेश्वर यहीं है, तथापि तुम यह देख नहीं सकते कि वह यहीं है। केवल उसके चखनेहीसे, उसके रस लेनेहीसे वह मालूम होता है। अर्थात् परमेश्वर आंखसे देखनेमे नहीं आता, पर उसका अनुभव हो सकता है और इस रीतिसे वह है, यह हमें निश्चय हो जाता है।"

मणिलाल—गुरुजी! इस बातमें नमकके बदले शक्कर कहा होता तो कैसा अच्छा होता!

गुरुजी—बहुत ठीक! परमेश्वर शक्कर जैसा मीठा है, पर तुम्हीं जरा कहो कि शक्करकी अपेक्षा क्या नमक कुछ कम स्वादु है?

मणिलाल गुरुजीका कहना समझ गया और निरुत्तर होकर कहने लगा—"गुरुजी! नमक बिना तो सारी रसोई फीकी लगती है। रसोईमें मिठाई बिना काम चल सकता है।"

---

[१४]

ईश्वर एक वा अनेक हैं

गुरुजी—बालको ! आजतक तुम हिन्दूधर्मके शास्त्रानुसार ईश्वरके सम्बन्धमे इतनी बातें जान चुके हो—

(१) इस विश्वमे सारी शक्ति केवल ईश्वरहीकी है—यक्ष और देवताओंकी बात याद करो, जो अध्याय १० मे पीछे वर्णन हुआ है ।

(२) सब कुछ उसीसे बना है, उसमेसे ही उत्पन्न हुआ है, उसमें ही स्थित है और अन्तमे उसीमे समा जाता है, जैसे मिट्टी और घड़ा, सोना और गहना ।

(३) किन्तु जो पदार्थ दीखते हैं, वे ईश्वर नहीं । वह तो इन पदार्थोंके अन्दर व्याप्त है । पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे बड़के पेड़के सूक्ष्म बीज ।

(४) यद्यपि इस दृष्टिसे तो वह देखा नहीं जाता, लेकिन यदि चाहें तो उस वस्तुका रसास्वादन किया जा सकता है, जैसे जलमें मिश्रित नमक वा शक्करका ।

अब कहो, ईश्वरके विषयमें और क्या जानना चाहते हो ?

रमाकान्त—गुरुजी महाराज ! ईश्वर एक है अथवा अनेक ?

गुरुजी—ईश्वर एक है । यह सारा विश्व एक है, इसके सब पदार्थ इकट्ठे रहते हैं, एक दूसरेके साथ गुथे हुए है और एक ही रचनाके अङ्ग हैं । देखो, इस सरोवरमें एक कङ्कड़ डालो, पानीकी कैसी लहरें उठती दीखती हैं ! एक जगह पानी हिलता

हैं, लेकिन उस हलचलका असर सारे सरोवरमे फैल जाता है। तुमने बड़े शहरोंमे एकाध कपड़े बनानेका कारखाना तो देखा ही होगा। न देखा हो तो यह नन्हीसी घड़ी ही देखो। इसमे चक्र कैसे एक दूसरेके साथ जुड़े हुए हैं—एक फिरता है तो दूसरा फिरता है, दूसरा फिरता है तो तीसरा फिरता है। इस प्रकार इस विश्वको भी समझना चाहिये। सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी एक दूसरेसे लाखों और करोड़ों योजन दूर हैं, तथापि ये सब एक ही घड़ीके चक्र हैं, और इसकारण इन सबका रचनेवाला एक ही होना चाहिये। एक न हो तो इन सबके बीच कितना गड़बड़ मच जाय? अभी ये सब चक्र तो फिरते हुए देख पड़ते हैं तो भी तुम इनको एक दूसरेसे अलग कर सकते हो। किन्तु अपने शरीरके जो अवयव हैं, उनका काम एक दूसरेसे बिल्कुल जुदा है तो भी वे एक दूसरेसे जुदे नहीं किये जा सकते। सब मिलकर एक ही काम करते हैं? सभी मनुष्यके जीवनकी सेवा कर रहे हैं। वे किसके द्वारा ऐसा करते हैं? जैसे अपने शरीरके अवयव इकट्ठे रखकर चलानेवाली एक आत्मा है, वैसे ही यह विश्व और इसमे विराजमान परमात्मा है।

इसकारण हिन्दूधर्मके शास्त्रोंमे इस विश्वको परमेश्वरका शरीर बतलाया है, और परमेश्वर उसके अन्दर बसनेवाला जीवन कहा गया है। उस महान् पुरुषके हजारो मस्तक है, हजारों आंखें हैं, हजारों पैर हैं। यदि दूसरे प्रकारसे यह बात कहें तो यह आकाश उसका सिर है, ये सूर्य चन्द्र उसकी आंखे हैं, यह वायु उसका श्वासोछ्वास है, इत्यादि।

रमाकान्त—तब तो परमेश्वर बड़े दैत्यके सदृश हुआ ?

गुरुजी—नहीं, परमेश्वर बड़ा है; लेकिन वह दैत्य जैसा नहीं। मैंने तुमसे कुछ दिन पहले जो कुछ कहा था, वह तुम भूल गये। परमेश्वरके वर्णन करनेके लिये हम ये जितने दृष्टान्त लेते है, उतने अधूरे हैं। हमने इस विश्वको परमेश्वरका शरीर और परमेश्वरको इसमें बसनेवाला जीव बतलाया, इसका अर्थ यह है कि इस अखिल विश्वमे बसनेवाला परमेश्वर एक है, वह सब पदार्थोंको इकट्ठा रख, सबके अन्दर रहकर सबका सञ्चालन करता है। जैसे हमारे शरीरमें जीव, वैसे परमेश्वर अखिल विश्वमें प्रविष्ट है।

रसास्वादन=रसका चखना।	मिश्रित=मिला हुआ।
योजन=चार मील, अवयव=अंग।	श्वासोछ्वास=सांस, प्राण।
संचालन=चलाना।	प्रविष्ट=व्याप्त।

---

[१५]

तेतीस करोड़ देवता

गुरुजी महाराज! आप कहते हैं कि हिन्दूधर्ममे परमेश्वर एक है, तो तेतीस करोड़ देवता क्यों कहे जाते हैं?

गुरुजी—परमेश्वर एक है, किन्तु उसके प्रकाशके स्थान असंख्य हैं। इस विश्वके सूर्य, तारे और पृथ्वी आदि अगणित पदार्थोंमे उसकी अगणित शक्तियां प्रकाशमान हैं। अतएव करोड़ो देवता हैं, यह कहा जाता है।

मतिराम—गुरुदेव ! विश्वके समस्त पदार्थोंमे परमात्माकी शक्तियां स्फुरित हो रही है, इस भावकी सुन्दर कविता मुझे याद आती है :—

विमल इन्दुकी विशाल किरणे प्रकाश तेरा दिखा रही हैं ।
अनादि तेरी अनन्त माया जगतको लीला दिखा रही है ॥
तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वह देख सकता है चन्द्रिकाको ।
तुम्हारे हँसनेकी धुनमें नादियां निनाद करती ही जा रही है ॥

गुरुजी—यह कैसा सुन्दर भाव है ! वस्तुतः ईश्वरका ऐश्वर्य्य विश्वकी इन सब वस्तुओमे देखनेमे आता है। उसका प्रतिविम्ब सभी पदार्थोंमे झलकता है। वह एक है,किन्तु अनेक रूपोंसे प्रकट हो रहा है इस बातके समझ लेनेपर हिन्दूधर्ममे "तेतीस करोड़" देवता क्यों कहे जाते है, इस प्रश्नका उत्तर कुछ कठिन प्रतीत नही होता। ये देवता एक परमात्माके हो अनेक रूप हैं। करोड़के लिये मूल संस्कृत-शब्द 'कोटि' है। कोटि शब्द वर्ग वा प्रकारके अर्थमे भी प्रयुक्त होता है। १२ आदित्य कहे जाते हैं, ११ रुद्र,८ वसु, और देवताओके राजा इन्द्र १, और उत्पन्न हुई वस्तुमात्रके पति, स्वामी, प्रजापति १, इस प्रकार मिलकर ३३ होते हैं। करोड़ 'कोटि'—देवता, इस वाक्यका यह अर्थ है कि देवताओंकी कुल संख्या ३३ है, अर्थात् वे तेतीस प्रकारके हैं।

लड़के 'तेतीस करोड़ देवताओ' का यह अर्थ जानकर अचम्भेमे हुए और उन्हे यह मालूम हुआ कि लोग इस विषयमे

कितने अनभिज्ञ हैं! सब अपने अपने मनकी शंकाओंका समाधान गुरुजीसे करानेके लिये उत्सुक हुए।

अगणित=जो गिने न जायं। निनाद=शब्द।

स्फुरित=प्रकट होना। प्रतिविम्ब=छाया।

स्मित=मुसक्यान। अनभिज्ञ=अजान।

---

[१६]

त्रिमूर्त्ति—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव)

रमाकान्त नामका एक चतुर लड़का था, उसने दूसरे दिन धर्मोपदेश शुरू होते ही एकदम गुरुजीसे प्रश्न पूछा।

गुरुजी! हमारे धर्ममें शिव, विष्णु आदि जुदे जुदे देवता कहलाते है, इसका क्या कारण है?

गुरुजी—यह अच्छा प्रश्न पूछा गया है। हम लोगोमें कितने ही ऐसे कट्टर वैष्णव होते है कि जो "शिव" शब्दका भी प्रयोग नही करते; क्योंकि उसमे शिवका नाम ले लिया जाता है। इसी प्रकारसे बहुतसे शैव भी विष्णुकी निन्दा करते है। यह बहुत खोटी बात है। मद्रास प्रांतमे कभी कभी अज्ञान और स्वार्थसे शैव और वैष्णवोमे बड़े झगड़े हुए थे। इसकारण अपने शास्त्रोमे शिव और विष्णुकी निन्दाके पिछले समयके मिलाये हुए श्लोक आ गये है, उन्हें हमारे कितने ही अज्ञानी भाई शास्त्र समझते है। अब मैं तुम्हे इस सम्बन्धमे ठीक ठीक बात बतलाता हूं, पर विषय कुछ कठिन है, इसलिये ध्यानपूर्वक सुनो:—

कुछ समय पहले मैंने तुम्हारे सामने 'ईश्वर' शब्दकी व्याख्या की थी, जो कदाचित् तुम्हें याद होगी। "जिसमेंसे ये सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमेंसे उत्पन्न होकर जीते हैं और जिसके प्रति जाते हैं, जिसमें प्रवेश करते हैं वह परमात्मा है।"

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ९ श्लोक १८

इस व्याख्यामें परमेश्वरसम्बन्धी तीन बातें हैं (१) एक तो यह कि वह जगत्का स्रष्टा है, और (२) दूसरी यह कि वह इसकी रक्षा करता है, और (३) तीसरी यह कि वह इसका संहार करता है, अर्थात् अपनेमें मिला लेता है। उत्पत्ति, रक्षण और संहार वा लय, इन तीन क्रियाओंको लेकर परमेश्वरके तीन रूप वर्णन करनेमें आते हैं :—

(१) एक ब्रह्मा, अर्थात् जिस परमेश्वरमेंसे यह विश्व बढ़ता है, उदित होता है और फलता है।

(२) दूसरे विष्णु, अर्थात् जो परमेश्वर इस जगत्में आत्म-रूपसे प्रविष्ट हो इस जगत्की रक्षा करता है। रक्षाके निमित्त वह अवतार भी लेता है।

(३) तीसरे रुद्र, अर्थात् जो परमात्मा प्रलयके तूफान और अग्निके रूपसे इस जगत्का संहार करता है, पर कितने ही कहते हैं कि यह जगत् स्वयं ही तूफानरूप है, और यदि यह शान्त हो जाय तो जिसमें यह शान्त होता है वह एक परमात्मा

ही है। इसलिये रुद्रका ही दूसरा नाम शिव है, अर्थात् जो संहार करता है, वही सुख भी देता है। फिर तुम्हें याद होगा कि वेदमें जो अग्नि है, वह सब वस्तुओंको जलाकर भस्म कर डालती है, पर साथ ही साथ घर घरमें बसकर सबको वह सुख भी देती है। यह शुभ कल्याणकारी अग्नि ही शिव है। अग्निकी सीधी ज्वाला वही शिवकी मूर्त्ति (शिव-लिङ्ग) है। अग्निकी ज्वालाके साथ धुएंकी काली-पीली लटें, वे ही शिवजी-की जटा हैं, अग्निके पधरानेकी वेदी (कुण्ड) यह शिवजीकी जलाधारी है, और अग्निमें हवन किया हुआ घी तो शिवजीकी मूर्त्तिपर पड़नेवाला जलका अभिषेक है। इस प्रकारसे वेदकी अग्निपूजा ही पुराणोंकी शिवपूजा है, और इसी कारणसे शैव-सम्प्रदायमें भस्म लगानेकी इतनी महिमा है।

स्रष्टा=रचनेवाला। संहार=नाश।

---

[१७]

गणपति और माता

त्वांहि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो।

ऋग्वेद।

अर्थः—हे अनन्त और सर्वव्यापी ईश्वर! आप ही हमारे पिता और आप ही हमारी माता हो।

कुछ दिन पहले गणपति-उत्सव हुआ था, उसके बाद नव-रात्रिके दिन आये और फिर विजयादशमी तो कल हो चुकी है, इसलिये सबके मनमें गणपति, दुर्गा और राम-रावणके नाम रम रहे थे।

गुरुजी—वालको! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव), ये तीन जुदे जुदे देवता नहीं, पर एक ही ईश्वरके तीन विशेषण वा नाम हैं। यह तो तुमपर विदित ही है कि इनमेसे विष्णु और शिवकी पूजा तो होती है, पर क्या तुमने ब्रह्माकी पूजा होते हुए देखी है?

हरिलाल—नहीं महाराज! कहते हैं कि केवल अजमेरके पास पुष्कर नामक एक तालाव है, जिसके किनारे एक सुन्दर सफेद पत्थरकी ब्रह्माकी मूर्ति है, जिसकी पूजा होती है।

गुरुजी—ठीक, पर मेरा कहना है कि तुम सबने थोड़े ही दिन पहले, ब्रह्माकी वा जिसके नाममे ब्रह्मा शब्द आता है, ऐसे एक देवताकी पूजा होती हुई देखी है और शायद तुममेंसे कितनोहीने पूजा की होगी।

यह सुन सब बच्चे अचम्भेमे पड़ गये, और इस वातको न समझनेके कारण एक दूसरेकी तरफ देखने लगे।

गुरुजी—क्या तुमने थोड़े ही दिन पहले गणपति-उत्सव नही किया था? यह गणपति-पूजा ब्रह्मा व ब्रह्मणस्पति, इस नामके देवताकी पूजा है। परमेश्वरकी स्तुति-वेदके मन्त्र, यही 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है। हमारे ऋषियोका मत है कि परमेश्वरकी स्तुतिद्वारा ही इस जगत्मे हरेक वस्तु उत्पन्न होती है और

बढ़ती है। इसकारण इस स्तुतिके देवता "ब्रह्मा" ही इस सृष्टिके कर्त्ता हैं। उनका बड़ा नाम 'ब्रह्मणस्पति' (अर्थात् ब्रह्मा—स्तुति-रूपी वाणीके—पति, देवता) है। इन ब्रह्मणस्पतिको वेदमे एक जगह 'गणोका पति, गणपति,ऐसा विशेषण लगाया है, इसलिये ब्रह्मणस्पति गणपति कहलाये। (गण=समूह) अर्थात् ईश्वरके स्तुतिरूपी वेद-मन्त्रोंके जो समूह—गण—उनके पति वे गणपति हैं। ईश्वरको स्तुति करनेमे सब विघ्नोंका नाश होता है, इसलिये हर एक शुभ काम करनेके पहले गणपतिका पूजन वा स्मरण करनेमे आता है। पुस्तकमे भी पहले 'श्रीगणेशाय नमः' अर्थात् श्रीगणपतिको नमस्कार, यह लिखा जाता है। यात्रामें जानेपर उन्हींका स्मरण किया जाता है, और विवाह, जनेऊ आदि शुभ प्रसङ्गोपर गणपतिकी स्थापनाके पश्चात् सब काम शुरू होता है। वाणीके पति ब्रह्मणस्पति विद्याके देवता है। अतएव गण-पति भी विद्याके देवता हैं। इसकारण जब हम बच्चोंको पाठ-शालामे बिठलाते हैं, तब हम विशेषरूपसे गणपतिहीका स्मरण करते हैं।

हरिलाल—गुरुजी! इसका निष्कर्ष यह है कि विद्याके देवताका स्मरण करनेसे सब विघ्न नष्ट होते हैं। यह कितना सुन्दर भाव है!

गुरुजी— ठीक है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि यदि ईश्वरकी स्तुति करें और विद्या पढ़ें तो सब तरहकी अड़चनें दूर हो जाती हैं।

अब दूसरी बात सुनो। नवरात्रिमें देवीकी पूजा हुई थी।

वह देवी जो परमेश्वरकी विश्वमे भ्राजमान शक्ति है। उससे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है। इसलिये उसे हम 'अम्बिका' अथवा "माताजी" भी कहते हैं। उस परमेश्वरकी शक्ति तीन तरहकी है—एक तो विद्या, जिसे 'सरस्वती' कहते हैं, जो इस विश्वमें नदीको भांति बहती रहती है। दूसरी इस विश्वमे फैली हुई सुन्दरता है, जो ईश्वरका चिन्ह है, जिसके कारण हमे ईश्वरका भान होता है, इस स्वरूपको 'लक्ष्मी' कहते हैं। इसके सिवाय इस विश्वमें सुन्दरताके साथ जो विकराल रूप देखनेमे आता है, जो ईश्वरकी प्रचण्ड शक्ति सब पदार्थोंका भक्षण करती है, वह उसकी तीसरी शक्ति है।

बालको! बतलाओ कि वह कौनसी शक्ति है जो सारे पदार्थोंका भक्षण करती है?

हरिलाल—काल।

गुरुजी—ठीक। तो सब जगत्को भक्षण करनेके लिये मुंह फाड़कर खड़ी हुई इस प्रभुकी तीसरी शक्तिका नाम 'काली' वा 'चण्डी' है, किन्तु जैसे रुद्र शिवरूप भी हैं वैसे ही 'काली' भी 'गौरी' हैं (गोरे शिवकी पत्नी, मङ्गलकारी परमेश्वरकी श्वेत उज्ज्वल शक्ति)।

इस प्रकार महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती, ये तीन प्रभुकी शक्तिके रूप हुए। और ये शिव वा रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा, इन तीनोंकी तीन शक्तियां कही जाती हैं। ब्रह्मा, यह वाणीके देवता और उनकी शक्ति सरस्वती वाणीकी देवी हैं।

जगत्में व्याप्त विष्णुकी पत्नी लक्ष्मीजी हैं। वे सुन्दरताकी

मूर्त्ति हैं। और संहार करनेवाले ईश्वर रुद्र वा महाकालेश्वर, उनकी पत्नी महाकाली सब पदार्थोंका भक्षण करनेवाली शक्ति हैं।

हरिलाल—गुरुजी! महाकालीको सिंह वा व्याघ्रपर बिठाते हैं। इसका कदाचित् यह कारण हो सकता है कि वे सबका भक्षण करनेवाली शक्ति हैं।

गुरुजी—ठीक यही बात है। और सरस्वतीको हंसपर बिठाते हैं। कवि लोग कहते हैं कि हंस मोती चुगता है, दूध और पानीको जुदा कर उसमेंसे दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। इसी प्रकार सरस्वती अथवा विद्या, जो वस्तु सुन्दर और सत्य होती है, उसका ग्रहण करती हैं और जो खोटी और मैली होती है, उसे छोड़ देती हैं। लक्ष्मीजीका गण उल्लू भी है, जिसका अर्थ यह है कि केवल लक्ष्मीहीके उपासक धनके मदमें अन्धे हुए रहते हैं।

निष्कर्ष=सार। भ्राजमान=प्रकाशमान।

---

[१८]

अवतार

गुरुजी—बालको! उस बालपुस्तकमें 'चन्द्रमा' की कविता है, क्या वह तुम्हें याद है?

बहुतोंको वह मधुर कविता याद थी, इसलिये उनमेंसे एक बोला:—

रमाकान्त— गुरुजी! मैं बोलूंगा—

"माई मोहि चन्दा प्यारो दे री
चन्दा प्यारो दे री माई मोहि चन्दा प्यारो दे री
नौ लख तारे बीन गगनते गोदीमे भर दे री
माई मोहि चन्दा प्यारो दे री"

बालकने यह कड़ी गाई। गुरुजीने कहा—"बस, अब यह कहो कि वह चन्द्रमाको गोदीमे रखकर उससे खेलना क्यों चाहता था?

कान्तिलाल—चन्द्रमा एक बहुत ही मनोहर वस्तु है।

गुरुजी—तो कहो, यदि ईश्वर भी तुम्हारे समीप हो तो तुम्हें अच्छा लगे वा नही?

राधाकान्त—क्यों न अच्छा लगे? यदि वह देख पड़े और उसके साथ बातचीत हो सके तो कैसा अच्छा हो?

गुरुजी—विचारचन्द्र! तुम क्या कहते हो?

विचारचन्द्र—जो राधाकान्त कहता है, ठीक ही है, पर ईश्वर किस रीतिसे देखा जा सकता है, उसके साथ बातचीत कैसे हो सकती है? वह कुछ इस मेज वा इस वृक्षके सदृश नहीं, जिसे हम अपनी दृष्टिसे देख सके और बातचीत कर सकें।

गुरुजी—ठीक, अब मेरे दूसरे प्रश्नका उत्तर दो। ईश्वर कहां रहता होगा? अपने पास वा दूर?

विचारचन्द्र—वह हमारे समीप और हमसे दूर भी रहता है, दूरसे दूर तारोंमे और समीपसे समीप हमारे हृदयमे उसका वास है।

कवि दलपतरायकी सुन्दर कविताका यही भाव है:—

आस पास आकाश महँ, अन्तर महँ आभास ।
पात पातमें पाइये, विश्व पतिको वास ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरो मुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

गीता अ० १३ श्लो० ११

(अर्थ) उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर आँख, सिर और मुंह हैं, सब ओर कान हैं, और वही इस लोकमें सबको व्याप रहा है।

ईशावास्य मिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्

यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र १

अर्थ—इस संसारमे ऐसा कोई स्थान वा वस्तु नहीं है, जहां ईश्वर व्याप्त नहीं। सर्वत्र ईश्वर व्यापक है।

गुरुजी—तो वह क्यों नहीं देख पड़ता ?

विचारचन्द्र—कारण यह कि उसका शरीर नहीं।

गुरुजी—शरीर हो तो क्या वह देखनेमें आवे ?

विचारचन्द्र—हां महाराज।

गुरुजी—लेकिन मेरा तो शरीर है ही, मैं तुम्हें कहां नजर आता हूं ?

विचारचन्द्र—यह आप दिखाई तो दे रहे हैं।

गुरुजी—यह तो मेरा शरीर दिखाई देता है।

विचारचन्द्र—लेकिन शरीरमें आप हैं न !

गुरुजी—तो इसी प्रकार समझो कि इस विश्वरूपी शरीरमें भी ईश्वर निवास करता है और इसलिये वह दूरसे दूर रहता हुआ हमारे समीपसे समीप है। उसका समीप आना ही उसका अवतार, अर्थात् नीचे उतरकर आना है। किन्तु इस विश्वमें उतरकर आना तो उसका सामान्य अवतार है, पर इसके सिवा उसके कितने ही विशेष अवतार भी होते हैं। प्रभु इस विश्वके कण कणमे व्याप्त है, तथापि हमारे ऐसे साधारण मनुष्य उसे देख नहीं सकते, लेकिन जब वह अमुक पदार्थमे वा अमुक मनुष्यमे प्रकट होता है, तब हम उसे तुरन्त पहचान सकते हैं।

चुन्नीलाल—गुरुजी, वे पदार्थ वा मनुष्य कहां होंगे, जिनमे हम प्रभुका अवतार देख सकें ?

गुरुजी—इस विश्वमे जो जो वस्तु सुन्दर, प्रतापी और कल्याणकारी तथा अद्भुत शक्तिवाली हो, उन सभीमे।

चुन्नीलाल—तो जगत्के सभी बडे बड़े पुरुषोमे प्रभुका अव-तार है ?

गुरुजी—हां।

विचारचन्द्र—लेकिन उनमें तो बहुतसे दुष्ट पुरुष भी होते हैं।

गुरुजी—ठीक, लेकिन दुष्टतामे बड़प्पन नहीं। बड़प्पन जगत्के कल्याण करनेमे है। अपने न्यायसे, ज्ञानसे, प्रेमसे, उपदेशसे इत्यादि बहुत रीतिसे जो दुनियांपर उपकार करते हैं, उनमें ईश्वरका अवतार समझना चाहिये। ईश्वर कुछ ऊंचे आकाशमें बठा हुआ इस जगत्को नहीं चलाता, वह तो हमारे अन्दर बसकर

काम करता है। भगवद्गीतामे भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जब जब धर्मका ह्रास होता है और अधर्म उठ खड़ा होता है, तब तब मैं सत्पुरुषोंके रक्षण करनेके लिये और दुष्टोंका नाश करनेके लिये, और इस रीतिसे धर्मको फिर स्थापन करनेके लिये अवतार लेता हूं उस समय मैं मनुष्य-लीला करता हुआ दिखाई पड़ता हूं ।

जगत्का रक्षण करना—यह काम विष्णु भगवान्का है। इसकारण प्रायः विष्णुके ही अवतार माने जाते हैं। ऐसे अवतार दस अथवा (दूसरी संख्याके अनुसार) चौबीस कहे गये है। उनमेसे कितने ही तो परमेश्वरके स्वरूप समझानेके लिये बनाये हुए दृष्टान्त हैं, जैसे कूर्मावतार। कछुआ जैसे अपने अङ्गको भीतर खींच लेता है और फिर फैला देता है, उसी प्रकारसे परमात्मा भी सृष्टिरूपी अङ्गको अपनेहीमें संकुचित कर लेता है और फिर उसे फैला देता है। कितने ही अवतार जगत्के लिये सिर्फ ज्ञान देनेवाले महापुरुष हैं, जैसे ऋषभदेव, कपिल, बुद्ध। कितने ही दुष्टोका हनन कर जगत्की रक्षा करनेके लिये है, जैसे नरसिंह, परशुराम, राम और कल्कि, और कितने ही ज्ञान और रक्षण दोनोहीके निमित्त होते हैं, जैसे कृष्ण।

[१६]

राम और कृष्ण

भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये प्रभु अपनी मायासे लीलामय शरीर धारण किये हुए दिखाई देते हैं। जैसाकि गीतामें लिखा है :—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

गीता अ० ४ श्लो० ६

अर्थ—मैं सर्व प्राणियोंका स्वामी और जन्मरहित हूं। यद्यपि मेरे सर्वव्यापी आत्मस्वरूपमे कभी भी विकार नहीं होता, तथापि अपनी ही प्रकृतिमे अधिष्ठित होकर मैं अपनी मायासे जन्म लिया करता हूं।

विष्णुके सब अवतारोंमे राम और कृष्ण, ये दो अवतार मुख्य गिने जाते हैं। नारायण, वासुदेव इत्यादि नामोंसे भी विष्णुका भजन होता है, किन्तु वैष्णव पन्थका अधिक भाग राम अथवा कृष्णके नामहीसे विष्णुका भजन करता है।

वसुदेवके पुत्र वासुदेव—कृष्ण इस प्रकारका एक अर्थ है। किन्तु ईश्वररूपसे जब इसका अर्थ ग्रहण करना होता है, तब प्राणिमात्रमे बसनेवाला, प्राणिमात्रको बसानेवाला, और उसमे दीप्तिमान, प्रकाशमान परमात्मा, यही इस वासुदेव शब्दका अर्थ होता है।

राम—प्राणिमात्रमें रमण करनेवाले और उसे रमानेवाले प्रभुका नाम राम है। राम दशरथ राजाके पुत्र और सीताके पति थे। यह तो उनका स्थूल अवतार-रूप था। उस अवतारका चरित्र तुम सबने बहुत बार पढ़ा और सुना होगा, किन्तु उस अमृतको पीकर किसे परितृप्ति होती है? अतएव हम उस चरित्रका संक्षेपमें फिर स्मरण करें। रामावतारमे रहकर प्रभुने पिताके वचनका पालन किया। भरतको राजसिंहासन सौंपकर स्वयं सीता और लक्ष्मणके साथ वे वनमें गये। जब रावण सीताको पञ्चवटीसे ले गया, तब उनकी खोजमें वे दक्षिणकी ओर चले, जहां सुग्रीव और हनुमानके साथ उनकी मैत्री हुई। हनुमान सीताजीकी खोजके लिये भेजे गये। वे समुद्र पार कर लङ्कामें पहुंचे, जहां अशोकवाटिकामें, रात-दिन निरन्तर रामनामकी रटना करती हुई सीताजीको उन्होंने देखा। उनसे मिलकर हनुमान पीछे लौटे और सीताजीका सारा वृत्तान्त रामको कह सुनाया। समुद्रपर पुल बांधकर राम अपनी वानर-सेनाके साथ लङ्कामें उतरे, रावणके साथ युद्ध किया, रावणको मारा, रावणके भाई विभीषणको गद्दीपर बिठाया और सीताको ले अयोध्याको वापिस आये। वहाँ न्यायसे और प्रजाको सुखी रखकर उन्होंने राज्य किया, और समय पानेपर वे स्वधामकी ओर प्रस्थित हुए। एक वचन, एक पत्नीव्रत, धैर्य्य, न्याय और प्रजारञ्जन, इन गुणोंके लिये रामावतार प्रसिद्ध है।

कृष्ण—जब कभी धर्मकी अवनति और अधर्मका उत्थान

होता है, तब साधु पुरुषोंकी रक्षाके लिये और दुष्ट पुरुषोंके विनाशके लिये जिसने अवतार लिया, उस प्रभुका नाम कृष्ण है। उनके अवतारसम्बन्धी जीवनके तीन भाग हैं—एक तो गोकुलके कृष्ण, दूसरा द्वारिकाके कृष्ण, और तीसरा अर्जुनके सखा; कुरुक्षेत्रके युद्धमे उनका सारथी बनना और ऐसी विषम अवस्थामे उन्हे उपदेश देना। परमात्माकी सच्ची भक्ति जैसी गोपियोंके प्रेममे थी वैसी ऋषियोके यज्ञमे भी न थी, जैसी स्त्रियोमें थी वैसी पुरुषोमे न थी, जो अनेक देवताओंकी उपासनासे उत्पन्न नहीं हो सकती थी वह अनन्य भक्ति एक प्रभुके शरणागत होनेहीसे हुई। गोकुलमे श्रीकृष्णजी १६ वर्ष-की आयुतक रहे। उतने समयमे वहांके गोप और गोपियोंके साथ अनेक प्रकारकी बाललीला करते रहे, जिसको रासलीला भी कहते हैं। यथा—गाना, बजाना, खेलना, कूदना, नाचना और स्वांग बनाकर हसी वगैरहसे विनोद करना और मल्ल-कुश्ती आदि व्यायाम करना, गो चराना आदि यही गोकुल-लीलाके उपदेश हैं। द्वारिकामे राज्य स्थापित कर यदुवंशियो-की राज-सत्ता चहु ओर फैलायी, अपने गृहस्थाश्रमके धर्मोका पालन किया, जरासन्ध आदि अन्यायी राजाओंको मारकर अनेक राजाओको बन्दीगृहसे छुड़ाया इत्यादि, ये सब वृत्तान्त कृष्णके द्वारिकाके राजजीवनके हैं। पांडवोके साथ सम्बन्ध और स्नेहके कारण युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें मेहमानोंके पाद-प्रक्षा-लनका काम विनयभावसे आपने अपने ऊपर लिया। कौरव-पांडवोंके युद्धके पूर्व, जहांतक हो सके युद्ध न हो तो अच्छा,

ऐसा विचार ठानकर दुर्योधनको समझाने वे स्वयं गये। दुर्योधनने न माना, युद्धकी तैयारियां हुईं।

दोनों सेनायें एक दूसरेके सम्मुख सजधजकर तैयार हुईं, कृष्ण अर्जुनके सारथी बने। किन्तु जिस घड़ी उन्होंने अर्जुनका रथ कौरव सेनाके सामने लाकर खड़ा किया, त्योंही अर्जुन अपने बन्धु-बान्धवोंको, वृद्ध गुरु और स्वजनोंको युद्धके लिये उद्यत देख युद्धसे पराङ्मुख होने लगे। उनकी छाती कांप उठी, धनुष हाथसे गिर पड़ा, शरीरमे पसीना छूट निकला। वे कृष्णसे हाथ जोड़कर पूछने लगे, "भगवन्! इन सगे-सम्बन्धियोके सामने शस्त्र कैसे उठाया जाय? उठाऊं तो पाप होगा, कुटुम्बका क्षय होगा, और लड़कर भी मैं जीतूंगा ही, इस बातका भी मुझे कुछ भरोसा नहीं! अत जैसा तुम कहो, वैसा करूं। क्या मैं लड़ूं वा न लड़ूं? मुझे तो कुछ भी नही सूझ पड़ता। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको एक ऐसा विशाल उपदेश दिया कि जिसमे सब धर्मोका समावेश हो जाता है। वह उपदेश भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है और हिन्दूधर्मके सभी आचार्य और गुरुओने, चाहे वे शैव अथवा वैष्णव हों, इसका बहुत ही आदर किया है। इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोगका संक्षेपमें बड़ी अच्छी रीतिसे वर्णन किया गया है। यूरोप, अमेरिका आदि देशोके भी विद्वान् लोग इसको बड़े प्रेमसे पढ़ते हैं, इसलिये समस्त संसारमें ही गीताकी ख्याति हो गई है।

हिन्दू लोग तो श्रीमद्भगवद्गीताको वेद और उपनिषदोंका सार मानते है। और आश्चर्य यह है कि मनुष्य जितना गीताका मनन करता है, उतना ही अधिक उसको नये ज्ञानका अनु-

भव होता रहता है। इसीलिये भिन्न भिन्न लोगोंने इसपर हजारो ही टीकायें रची हैं। यह सभी टीकायें अपने अपने ढंगकी हैं, किन्तु वर्त्तमान समयमे जो टीका "गीता रहस्य" के नामसे प्रसिद्ध हिन्दूधर्म-तत्ववेत्ता और देशनेता लोकमान्य पण्डित बालगङ्गाधर तिलकद्वारा बनाई गई है, वह तो एक अद्भुत टोका बनी है। प्रत्येक हिन्दूका परम कर्त्तव्य है कि गीताकी एक प्रति अपने पास अवश्य रखे और संसारमें भी गीताका प्रचार करे तथा कराये।

बन्दीगृह=जेल। अनन्य=तन्मय। प्रक्षालन=धोना।

---

[२०]

चार पुरुषार्थ

गुरुजी—बालको! प्रारम्भमें निश्चय की हुई अपने धर्मकी व्याख्या तो तुम्हें याद होगी?

परमेश्वरको समझना, उसका भजन करना, उसके इच्छानुसार काम करना जिससे अपनी और सबकी आत्माका भला हो—इसका नाम 'धर्म' है। हिन्दूधर्ममें परमेश्वरके समझने और भजनेके लिये उसका स्वरूप कैसा माना गया है, यह मैं बतला चुका हूं। परमेश्वर कैसे कर्म करनेसे प्रसन्न रहता है, इस विषयमे अब थोडा विचार करें।

सुबोध—कैसे काम किये जायं कि ईश्वर प्रसन्न रहे? यदि यह आप मुझसे पूछें तो मैं यह कहूंगा कि नीतिके अनुसार व्यवहार करनेसे ईश्वर सन्तुष्ट होता है।

गुरुजी—तो नीति क्या है ?

सुबोध—सच बोलना, विश्वासपात्र बनना, किसीका भला करना, इत्यादि।

गुरुजी—ठीक, इस विषयपर आगे चलकर और विशेष विचार करेंगे। किन्तु इसके साथ कोई तुमसे यह पूछे कि कमाना भला है वा बुरा, तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध—कमाना भला ही है, उद्योग करना और पैसा कमाना, ये बातें प्रामाणिकताके साथ होनी चाहिये।

गुरुजी—यदि कोई फिर तुमसे पूछे कि क्या धन कमाकर सुख भोगना चाहिये वा नही, तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध—बेशक, सुख भोगना उचित है, किन्तु निरुद्यमी रह-कर; धनोपार्जनके बिना, सुख भोगना ठीक नहीं और न ऐश-आराम ही करना उचित है।

गुरुजी—फिर कोई यदि तुमसे पूछे कि क्या अर्थोपार्जन और सुखोपभोगके साथ ईश्वर-भक्ति और कुछ परलोकका विचार करना उचित है वा नहीं, तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध—महाराज! यह तो उचित ही है।

गुरुजी—अब सुनो, तुम आज हिन्दू-धर्म-शास्त्रके एक बड़े सिद्धान्तको साधारण विचार करते करते सीख गये। वह यह कि चार पुरुषार्थोंके सिद्ध करने और यथासम्भव इन चारोका एक दूसरेके साथ मेल करनेमे मनुष्यके जन्मका सार्थक्य वा प्रयोजन है। वे पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं।

(१) **धर्म**—अर्थात् नीतिनियम, यह करना चाहिये, यह न

करना चाहिये, इस तरहकी आज्ञायें, जिनपर जन-समाज स्थित है।

(२) अर्थ--अर्थात् धन, जिसके उपार्जनमें मनुष्य दिन-रात दौड़ता फिरता है।

(३) काम—अर्थात् कमाना, सुखोपभोगकी इच्छा।

(४) मोक्ष—अर्थात् बन्धनसे छूटना। इस संसारमें हम जिन अज्ञान, दु:ख और पापसे परिवेष्टित हैं, उनसे छूटना ही मोक्ष है।

वीरेन्द्र—गुरुवर! क्या हम धर्मानुसार चलनेसे पाप और दु:खसे न छूट सकेंगे?

गुरुजी—अवश्य छूट सकेंगे, यदि हम धर्म शब्दको विशाल अर्थमे समझकर तदनुसार चलें तो छूटना सम्भव है। यदि धर्म अथवा नीतिनियमोंको ही हम समझकर बैठ रहें और परमेश्वरका विचार और उसकी भक्ति इत्यादि बड़े बड़े विषय छोड़ दें तो मोक्ष कैसे सम्भव है? इसके बिना अपना मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसलिये हिन्दू-धर्मशास्त्रमे धर्मके उपरांत मोक्ष माना जाता है।

वीरेन्द्र—गुरुदेव! तो यह चौथा पुरुषार्थ सबसे उत्तम है।

गुरुजी—हा, किन्तु वह पहले पुरुषार्थोंके बिना हो नही सकता। परमेश्वरकी भक्ति परमेश्वरका ज्ञान, धर्म और नीतिके बिना हो नही सकती। इसलिये धर्म सबका आधार है। अर्थ और काम, ये भी पुरुषार्थ हैं—क्योंकि पैसा कमाने और

सुखोपभोग करनेसे परमेश्वर नाराज नहीं होता—तथापि इन दोनोंको धर्म और मोक्षके अधीन रखना चाहिये।

निरुद्यमी=उद्यमरहित—कुछ कार्य न करना।

उपार्जन—कमाना। परिवेष्टित—बंधा हुआ।

---

[२१]

चार वर्ण (१)

गुरुजी—बालको! तुम इतना तो समझ गये होगे कि जब हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारोंको लक्ष्यमें रखकर चलेंगे, तभी हमारा जीवन पूर्णरूपसे सार्थक होगा। लेकिन यदि कोई तुमसे पूछे कि धर्म क्या वस्तु है, धनका कैसे उपार्जन करना चाहिये, सुखोपभोग कैसे करना चाहिये, ईश्वरका अनुभव किस रीतिसे होगा, इत्यादि, तो तुम क्या उत्तर दोगे?

आनन्द—हम कुछ थोड़ी बात कह सकते हैं, किन्तु इन प्रश्नोंका यथोचित उत्तर हम न दे सकेंगे। विद्याके पढ़े बिना ये सब बातें ठीक ठीक समझमें नहीं आती।

गुरुजी—ठीक, विद्या ही उन पुरुषार्थोंकी सिद्धिका मूल है। विद्याके बिना कुछ भी नहीं हो सकता, इसलिये देशमें बहुतसी पाठशालाएं, शिक्षक और उपदेशक होने चाहिये।

लेकिन बालको,—ईश्वर न करे ऐसा हो—मान लो, इसी क्षण हमारी पाठशालामें लुटेरे अकस्मात् आ घुसें तो?

सूर्य्यदेव—पर लुटेरे कैसे आ सकते हैं, राजा हमारी रक्षा

करता है। उसके नियत किये हुए पुलिस-विभागका यह कर्त्तव्य है कि वह लुटेरोंको पकड़े और सजा करावे।

गुरुजी—पर यदि लुटेरे शस्त्र लेकर मारने आवें तो?

सूर्य्यदेव—जहांतक हो सके उन्हे पकड़ना चाहिये, नही तो फिर मारना चाहिये।

गुरुजी—ठीक, तो इतना ध्यानमे रखो कि जन-समाजमें जैसे विद्वान् गुरु और उपदेशकोंके एक वर्गकी आवश्यकता है, वैसे ही प्रजाकी रक्षा करनेवालोंका दूसरा वर्ग होना चाहिये। लेकिन यह कहो कि पाठशालाके गुरु और पुलिस-विभागके निर्वाहके लिये धन चाहिये, वह कहांसे मिले?

चन्द्रकान्त—(विचारकर) सरकार हमारे पाससे जो कर लेती है, उसमेसे पैसे दे।

गुरुजी—यदि लोगोंके पास पैसे ही न हो तो?

चन्द्रकान्त—यदि हम पढ़े और उद्योग करें तो क्या हम अपने प्रतापी राजाकी छत्रच्छायामे बसकर धनोपार्जन नहीं कर सकते?

गुरुजी—तुम्हारा उत्तर एक तरहसे ठीक है, लेकिन यदि लोग केवल कर देकर बैठ रहे और राजा सिर्फ रक्षामात्र करे तो इतनेसे क्या बड़े बड़े विद्यालय, औषधालय, रेल, धर्मशालायें इत्यादि जो सार्वजनिक हित और आरामके लिये अनेक साधन चाहिये; वे पूरे पड़ सकते हैं? हममेसे कितने ही खेतोमें सुधार कर, नये नये कला-कौशल निकालकर, तथा देश परदेशमें व्यापार चलाकर यदि खूब धनोपार्जन करें और उस धनका

लोगोंकी भलाईमें उपयोग हो, तभी हम सुखसे जीवन व्यतीत कर सकते है। इसलिये जन-समाजमे इस तरहका काम करनेवाले कितने ही धनवान और धन कमानेवाले पुरुष अवश्य होने चाहिये। यह जन-समाजका तीसरा वर्ग है।

अब यह कहो—ये धनवान लोग तो धन पैदा करते हैं, पर दुनियामे यदि मजदूर ही न हों तो क्या धन पैदा हो सकता है?

रमानाथ—नहीं। मै एक बार बड़े बड़े कारखानोमे गया था। वहां मैंने मजदूरोंके झुण्डके झुण्ड देखे। वे ही लोग करोड़ो रुपयोंका सामान बना रहे थे।

गुरुजी—ठीक, मजदूर जन-समाजका चौथा वर्ग है। पर यह ध्यानमे रखना चाहिये कि यदि लोहेके ढालने और बिजलीके पैदा करनेकी विद्या सिखानेवाले पण्डित न हों, रक्षा करनेके लिये कोई राजा न हो और कारखानोंके धनवान मालिक भी न हो, तो बिचारे मजदूरोंको जीविका भी मुश्किलसे मिलेगी। इसलिये सचमुच जन-समाजमें इन चारों वर्गोंकी आवश्यकता है।

अतएव हिन्दू-धर्मशास्त्रकारोंने जन-समाजके चार वर्ग बनाये हैं, जो 'वर्ण' कहलाते हैं। ये चार वर्ण इस प्रकारसे हैं—

(१) ब्राह्मण—जिनका विशेष काम विद्या पढ़ना, पढ़ाना और धर्मका उपदेश करना है।

(२) क्षत्रिय— जिनका विशेष काम प्रजाकी रक्षा करना और युद्धमे लड़ना है।

(३) वैश्य—जिनका विशेष काम खेती, पशुपालन और व्यापार आदि साधनोसे धन उत्पन्न करना है।

(४) शूद्र—जिनका विशेष काम मजदूरी करना और सेवा करना है।

सार्वजनिक=सभीके लिये, वा सभीसे सम्बन्ध रखनेवाला।
जनसमाज=मनुष्योंका समुदाय।

---

[२२]

चार वर्ण (२)

व्रजनाथ—गुरुजी कहते हैं कि प्राचीन समयमे हमारा समाज एक रूप था और फिर कालान्तरमे उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार विभाग पड़ गये, यह क्या सच है?

गुरुजी—ठीक। जबतक जन-समाज सादी स्थितिमें रहता है तबतक एक मनुष्य अनेक धन्धे कर सकता है, लेकिन जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है और नई आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं वैसे वैसे धन्धे भी बढ़ते जाते हैं। गांवमे बनियेकी दूकानपर आटा-दाल बिकती है, वहीं कपड़ेके चार थान भी पड़े होगे और एक खानेमे पत्थरके वर्तन भी रखे होंगे। परन्तु शहरमे इन सबकी दूकाने अलग अलग होगी। लोहेकी ईजादके पहले हल बनानेवाला कदाचित् बढ़ई होगा, लोहेकी ईजादके बाद कुछ दिन लुहारका काम बढ़ई करता रहा होगा, पर अन्तमे लुहारके कामके बढ़ जानेसे बढ़ई और लुहारके पेशे जुदे हो गये। इस प्रकार एकमेसे अनेक धन्धे बन गये और जन-समाजके वर्ग बंधे। मूलमे एक ही वर्ण था। यही महाभारत और भागवत आदि पुस्तकोमे उल्लेख है।

देवदत्त—किन्तु, गुरुजी, कहते हैं कि वेदमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य जांघ है, और शूद्र पैर है। इसका अर्थ क्या है ?

गुरुजी—इसका अर्थ तुम नहीं समझे। इसका अर्थ यह नहीं कि इन्हें एक दूसरेसे जुदा समझना चाहिये, इसके विपरीत इसका अर्थ तो यह है कि सब एक ही महापुरुष परमात्माके अवयव हैं। एक शरीरमे एक अवयव चाहे ऊँचे स्थानपर हो वा नीचे स्थानपर हो, लेकिन इसकारण किसीको निकम्मा न समझना चाहिये, बल्कि उसे एक ही परमेश्वरके शरीरके अवयवके समान देखना चाहिये।

चन्द्रशेखर—(आश्चर्यके साथ) तो गुरुजी! ऐसा अर्थ करना चाहिये कि ये सब वर्ण एक हैं, किन्तु लोग तो ऐसा अर्थ करते हैं कि सब जुदे जुदे है। कैसा अज्ञान!

गुरुजी—यथार्थ है। तुम ही विचारो, कि यदि ऐसा न होता तो यह बात पुरुषसूक्तमे—जो मुख्यतया परमात्माके ही विषयमें है—किस लिये रखी जाती? किन्तु तुम्हारी समझमे कुछ फेर रहा है, इसे मैं निकालना चाहता हूं। सब एक नहीं, किन्तु सब मिलकर एक हैं—सब एक शरीरके अवयव है।

देवदत्त—गुरुजी! तो हिन्दू-धर्मके अनुसार जन्मसे कोई वर्ण ऊंचा नही ?

गुरुजी—धर्मानुसार नहीं है। अपनी योग्यताके कारण लोकमे वे ऊंचे नीचे गिने जायं, किन्तु धर्म तो यही मानता है कि वे सब एक ही परमात्माके अवयव हैं। और इसकारण

वेदमन्त्र हमे कहता है कि भाइयो, तुम्हारेमे ऊंच नीचके भेद अपने कामके अनुसार पड़ गये हैं, पर यह समझ लो कि सब एक ही महापुरुषके अंग हैं। (यह सुन, जुदे जुदे वर्णके होते हुए भी सब विद्यार्थियोका ऊच नीचका अभिमान जाता रहा।)

हरिलाल—गुरुजी! अब मेरा सिर्फ एक बातका प्रश्न है। हिन्दू-धर्म-शास्त्रके अनुसार क्या ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेनेवाला ब्राह्मण होता है अथवा विद्वान् और विद्या पढ़ानेवाला ब्राह्मण है?

गुरुजी—मूलमे तो कर्म्म और गुणके अनुसार ही विभाग पड़े थे, अर्थात् धन्धेके कारण जन-साधारणमे विभाग पड़े। किन्तु सारा जन-समाज एक ही धन्धेपर आरूढ़ होकर देशका हित बिगाड़ता है, जैसे बौद्धकालमें हजारों स्त्री-पुरुष बिना कुछ विचारे भिक्षु और भिक्षुणी बन गये।

क्योंकि उसके पहले लोग सांसारिक भोगमे बड़े आसक्त और क्रूरचित्त हो गये थे, इसलिये बुद्धको वैराग्यप्रधान उपदेश देनेकी आवश्यकता पड़ी। परन्तु इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जो सम्राट् चन्द्रगुप्तका स्थापित किया हुआ चक्रवर्त्ती राज्य; समस्त भारतवर्षके उपरान्त बाहरके देशोमे, यथा पश्चिममे काबुल, ईरान, बलख, बुखारा और पूर्वमें जावा, सुमात्रातक फैल गया था, वह उसके पौत्र सम्राट् अशोकके पश्चात्, इसी वैराग्यके कारण, छिन्न भिन्न हो गया। क्योंकि इस वैराग्यमय उपदेशके कारण लोग बहुत अधिक संख्यामे वैराग्य लेने लग गये थे। यहातक कि सम्राट् अशोकके समयमे

उनके अधिकांश भाई और पुत्र भी संन्यासी हो गये थे। किन्तु एक उत्तम फल यह भी हुआ कि सम्राट् अशोककी सहायतासे लाखोंकी सख्यामे बौद्ध-भिक्षुकोंने भारतवर्षसे बाहर जाकर चीन जापानतक बौद्ध धर्मका प्रचार किया। उसी प्रचारके प्रभावसे अबतक भी भारतवर्षके बाहर ४५ [पैतालीस] कोटि बौद्ध लोग बस रहे है, जो हमारे ही हिन्दू भाई हैं, यह हमारे लिये बड़े गौरवकी बात है। इस समय भी प्राचीन समयके अनेक आर्य सम्राटोंकी तरह बौद्धकालके इन चन्द्रगुप्त और अशोक आदि सम्राटोंको हम लोग आदरसहित याद करते रहते है। किन्तु खेद है कि राजकुलोमे छोटी अवस्थामें ही वैराग्यका प्रचार होनेसे भारतवर्षकी राजनैतिक स्थिति इतनी हीन हो गई कि बौद्धकालके पश्चात् कोई चक्रवर्त्ती सम्राट् हिन्दुओंमे अबतक नहीं हो सका है।

बाप दादोंका धन्धा सरलतासे सीखा जा सकता है और उसमे प्रवीणता सुगम रीतिसे मिल जाती है, इसलिये यह साधारण नियम बना दिया गया कि हर एक अपने कुलके धन्धे ही किया करे। परन्तु इस नियमके, गुण और कर्मके अनुसार, विपरीत दृष्टान्त भी होते थे। विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी तपके प्रतापसे ब्राह्मण हो गये। कवष ऐलूष शूद्र थे, किन्तु उनकी धार्मिकता देख ऋषियोंने उन्हें अपने मण्डलमे ले लिया था, जानश्रुति पौत्रायण नामका एक शूद्र राजा भी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर सका था।

वाल्मीकि व्यास आदि अनेक ऋषिगणकी उत्पत्तिका

सम्बन्ध शूद्रकुलसे उत्पन्न होनेपर भी वे अपने ज्ञानके कारण ब्राह्मण बन गये थे। ऐसे अनेक दृष्टान्त हमारी प्राचीन पुस्तकोंमें पढ़नेमें आते हैं।

चन्द्रकान्त—गुरुदेव! मेरा एक प्रश्न यह है कि इन चार वर्णोंमेंसे इतनी अधिक जातियां कैसे बन गईं।

गुरुजी—इसका एक कारण यह है कि वैश्योंके जुदे जुदे धन्धोंके कारण जुदे जुदे वर्ग बन गये। जो दूसरे भागमें बसनेके लिये गये, उन्होंने अपने अपने मूल वतनके अनुसार जुदी जुदी टोलियां बना लीं और उन टोलियोंमें भी अच्छे बुरे रिवाजोंके भेदसे और परस्परके झगड़े इत्यादि अनेक कारणोंसे तड़ पड़ते चले गये। लेकिन हिन्दू धर्म्मशास्त्रके अनुसार तो जन-समाजके केवल चार वर्ण हैं और वे भी मूलमें कर्म्म और गुणके अनुसार ही पडे हैं, जन्मसे नहीं पडते थे; हमारे पूर्व कथनानुसार ये चार वर्ण हजारों मुख हाथ पैरवाले जन-समाजरूप एक ही महापुरुषके अङ्ग हैं, इस तत्वको समझ लेना परम आवश्यक है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

गीता अ० ४ श्लो० १३

[२३]

चार आश्रम

गुरुजी—बालको! हिन्दूधर्म्ममें जो वर्ण-व्यवस्था बांधी गई है उसके विषयमे हमारे लम्बे चौड़े विचार करनेका कारण तो तुम समझे ही होगे?

केशव—हां, हमारे धर्ममे जातपांतकी बात बड़ी मानी जाती है और आजकल सब जगह, जातपांत रहनी चाहिये वा नही, इस विषयमे बहुत विवाद होता सुना करते हैं। इसलिये इस प्रश्नपर विशेष विचार करना आवश्यक था।

गुरुजी—ठीक। यदि धर्म्मके साथ इसका सच्चा सम्बन्ध न होता तो मैं इस विषयमे इतनी लम्बी चर्चा न करता। हिन्दू-धर्म्म-शास्त्रमे यह व्यवस्था बांधनेका और इसे शास्त्रकी आज्ञाके रूपमें रखनेका अभिप्राय यह है कि जन-समाजकी बिना ऐसी रचना वा व्यवस्था किये हुए, धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ सिद्ध नही हो सकते।

हरिलाल—चारोंको न साधें और एकाध साधें तो क्या काम न चले?

गुरुजी—एक दो मनुष्यका कदाचित् काम चल जाय, किन्तु समस्त जन-समाजका काम नहीं चल सकता। कोई भगवद्-भक्त मनुष्य तो यह कहेगा कि मुझे ऐसा न चाहिये, सुख न चाहिये, मुझे किसीकी सेवा न करनी चाहिये, मुझे कोई मार डाले तो भला, लेकिन मैं तो जबतक इस देहमें जीव है तबतक

परमेश्वरका ध्यान ही करूंगा, अर्थात् मुझे अर्थ और कामकी दरकार नही, मुझे वैश्य, क्षत्रिय और शूद्रकी जरूरत नही, मैं तो केवल ब्राह्मण ही रहना चाहता हूं, तो कदाचित् एक ही पुरुषार्थसे काम चल सकता है; किन्तु सारे जन-समाजके लिये एक पुरुषार्थ किस प्रकार पर्याप्त होगा? जन-समाजमे धन पैदा करनेवाले धनिक, श्रम करनेवाले मजदूर और रक्षा करनेवाले क्षत्रिय अवश्य चाहिये।

हरिलाल—जन-समाजको चाहिये तो इसमे हमे क्या मतलब ?

गुरुजी—जन-समाजसे हमारा घनिष्ट सम्बन्ध है, उसके कल्याणमे हमारा कल्याण है, इसे क्यों भूल जाते हो? इसलिये हमारी धर्म्मकी व्याख्यामे ही यह वात आती है कि अपना ही नही, वल्कि सारे जन-समाजका भला करना अपना कर्त्तव्य है।

ईश्वरने ही जन-समाजका निर्म्माण किया है, उसके कल्याणके बिना अपना कल्याण भी नहीं। अतएव किसी भी प्रकारके समाजकी व्यवस्थाका धर्म्मके साथ घना सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रकारोंने अपने समयके अनुकूल और उपयोगी होनेवाली व्यवस्था बनाई थी। तुम्हें अपने समयके अनुसार यदि जुदी तरहकी व्यवस्था बनानी हो तो बनाओ, पर किसी प्रकारकी वर्णव्यवस्था तो अवश्य ही होगी। यह भी याद रखना चाहिये कि चाहे जैसी व्यवस्था क्यो न हो, उसमे धर्म्मका अवश्य आदरणीय स्थान होना चाहिये और व्यवस्थामें अर्थ और

काम, धर्म्म और मोक्षका लोग तिरस्कार न करने पावें। आधार और छतके बिना कभी किसी इमारतको तुमने देखा है ?

वर्ण-व्यवस्थाका हिन्दू-धर्म्ममें इतना अधिक महत्व क्यों है, इस बातको लड़के समझ गये ।

गुरुजी—बालको ! अब हम आगे चलें। हिन्दू-धर्ममें जैसे जन-समाजकी भलाईके लिये कितने ही नियम बनाये गये हैं वैसे ही हर एक मनुष्यको अपना भला किस रीतिसे करना चाहिये, इस विषयपर भी विचारकर जीवनके एक सुन्दर "समय विभाग"की रचना की गई है। यह ऐसे विलक्षण विवेक और युक्तिसे बनाया गया है कि अपना भला करनेके साथ सबका भला हो सकता है। चार आश्रमोंकी व्यवस्था ही यह "समय विभाग" है। वे आश्रम इस प्रकारके हैं (१) **ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) सन्यासाश्रम**। आश्रमका सरल अर्थ विश्राम लेनेका स्थान है। पर इसका गम्भीर अर्थ यह है, कि जैसे ऋषि लोग वनमें आश्रम बनाकर रहा करते और उसमें अपने जीवन व्यतीत किया करते थे, वैसे ही साधारण मनुष्यको ऋषियोंके आश्रमकी भांति पवित्रतासे अपने जीवनके चार भाग बिताने चाहिये।

(१) इनमें पहला भाग ब्रह्मचर्याश्रम है। "ब्रह्म" अर्थात् वेदोपवेद विद्यायें, इन्हें केवल पढ़ना ही नहीं, किन्तु इनके अनुसार आचरण करना, इसका ही नाम ब्रह्मचर्य है। आठसे बारह बरसकी अवस्थाके भीतर पिता यज्ञोपवीत देकर बालकको गायत्रीका उपदेश करे।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि:—

जन्मना जायते शूद्रः

मनुः अ० श्लो०

(अर्थ) जन्मसे तो सभी शूद्रकी संज्ञामे गिने जाते हैं, परन्तु द्विज होनेके लिये संस्कारोंकी आवश्यकता होती है। फिर वह विद्यार्थी बनकर गुरुके घर जाय, वहां अत्यन्त सादगी और पवित्रतासे रहकर कमसे कम १२ बरसतक विद्या पढ़े और गुरुकी सेवा करे। सेवा करनेका मुख्य हेतु यह है, कि विद्यार्थी बालकपनहीसे नम्रता और सादगी सीखे। और ब्रह्मचारीको तो कुछ देहकष्ट भी सहना चाहिये, जिससे बडे होनेपर वह दुर्बल और आरामतलब न होकर परिश्रमी और बलवान हो। उसे भिक्षा मांगकर पेट भरना चाहिये। गांवमे फिरकर उसे भिक्षा लाना और गुरुको उसे समर्पण कर उसकी आज्ञासे उसका उपयोग करना चाहिये। भिक्षा करनेके कारण उसे लोगोंसे नम्रतापूर्वक व्यवहार करना और अपनी जीविका स्वयं करना इत्यादि बातें ब्रह्मचारी सीख लेता था। लोग भी विद्याका आदर करते और विद्याके लिये सहायता करना सीखते थे। गुरुकी शिष्यके जीवनपर देखरेख भी रहती थी। इस आश्रममें रहना ऐसा आवश्यक था कि श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष भी गुरुके घर आकर ऐसी ही सादगी और देहकष्टसे रहे और विद्याध्ययन किया।

(२) जिसे सारा जीवन विद्याकी सेवामे ही व्यतीत करनेकी इच्छा हो वह सदा ब्रह्मचर्याश्रममे ही रहे। जिस

किसीका मन अत्यन्त वैराग्ययुक्त हो वह ब्रह्मचर्याश्रममेंसे संन्यासी हो जाय, पर साधारण नियम यह है कि विद्याध्ययन समाप्त कर बीस वा चौबीस वर्षकी अवस्थामे घर जाकर गृहस्थाश्रममे प्रवेश करना चाहिये। विवाह करना और घर बनाकर रहना, यही गृहस्थाश्रमका आधार स्त्रीपर है, इसलिये स्त्रीपर प्रेम रखना, यह इस आश्रमका पवित्र धर्म है। भगवान मनुका कथन है कि जिस घरमें स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे प्रसन्न हैं वहीं कल्याण है, और जहां स्त्री प्रसन्न है वहां ईश्वर प्रसन्न हैं। इस आश्रमका दूसरा बड़ा धर्म 'दान' है। जिस आश्रममे धनोपार्जनका अधिकार है उसमे ही दान देनेका कर्त्तव्य है। गृहस्थाश्रममें अपने अपने वर्णके अनुसार हर एक मनुष्यको उद्योग कर कमाना और संसारका सुख भोगना चाहिये, पर दृष्टि सदा सदाचार और ईश्वरपर स्थिर रहनी चाहिये। इन बातोका स्मरण दिलानेके लिये पहले हर एक घरमें 'अग्निहोत्र' रखनेका रिवाज था, और पति-पत्नी साथ बैठकर अग्निमे आहुति देते थे। पति-पत्नी दोनों ही 'दम्पति' कहलाते थे, 'दं' अर्थात् घर उसके दोनो ही पति अर्थात् स्वामी थे। पुरुष स्वामी और स्त्री परिचारिका, यह 'दम्पति' का तात्पर्य नहीं। भगवान मनुका कथन है कि सब आश्रमोंमे गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि जैसे वायुपर सब प्राणियोके प्राणका आधार है वैसे ही गृहस्थाश्रमपर सब आश्रमोंका आधार है, जैसे छोटी बड़ी नदियां समुद्रमे जाकर आश्रय लेती हैं वैसे सभी आश्रमियोका विश्राम गृहस्थाश्रमीके यहां है।

(३) गृहस्थाश्रमके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम है। संसारका खूब सुख भोगनेके पश्चात् घरका सारा प्रबन्ध पुत्रोंपर छोड़ चिन्तन और मनोनिग्रह करते हुए अपने ज्ञानसे संसारको लाभ पहुचाना, वन उपवनमें जाना और परमात्माका चिन्तन करना, यही वानप्रस्थाश्रमका उद्देश्य है। ईश्वरके निरन्तर भजनके विचारसे गृहस्थ घर-बार छोड़, यदि स्त्रीकी इच्छा हो तो उसे भी साथ लेकर, वनमें जाता है। वनमें जानेका उद्देश्य यह है कि वहां फलफूल खाकर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है और कुटुम्बपर वह स्वयं भाररूप नहीं होता, पर विशेष कारण तो यह है कि वहा निरन्तर सृष्टि-लीला देखते हुए प्रभुका चिन्तन ठीक होता है। पूर्वकालमें तो सूर्यवंशके राजा लोग भी अपनी पत्नियोंके साथ वानप्रस्थ लेते थे, किन्तु कालक्रमसे देशमें राजकीय प्रबन्ध घट जानेके कारण वानप्रस्थाश्रम लुप्त हो गया। जाड़ा और धूप सहन करना, प्राणीमात्रपर दया रखना, उनके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होना, मन ईश्वरमें लगाना, और अपना समय धार्मिक पुस्तकोंके मननमें व्यतीत करना, ये ही इस आश्रमके मुख्य धर्म हैं।

(४) वानप्रस्थाश्रममें कुछ दुनियाके साथ सम्बन्ध रहता ही है, जैसे आश्रम बनाकर रहना, स्त्रीके साथ वा अकेला रहकर ईश्वरका चिन्तन करना, और अतिथि आवे तो उसका सत्कार करना, तथा कितने ही व्रत होम आदि करना। पर वानप्रस्थाश्रमके पश्चात् अन्तिम संन्यासाश्रम है। इसमें समस्त कर्मों और सांसारिक सम्बन्धोंका 'संन्यास' अर्थात् पूर्णरीतिसे

त्याग करना पडता है। संन्यासीको एक बार भिक्षा मांगकर भोजन करना, निरन्तर परमात्मा का चिन्तन करना, एक ही ग्राम, शहर वा वनमें पड़े न रहकर देशाटन करते रहना, और अपने पवित्र ज्ञानसे जगत्का कल्याण करते रहना चाहिये। उसे क्रोध करनेवालेके सामने क्रोध न करना चाहिये, और जो गाली देता हो उससे कुशल-प्रश्न पूछना चाहिये, अर्थात् उसे सदा शान्त, दयावान, क्षमाशील और परोपकारी होना चाहिये। ये ही संन्यासाश्रमके धर्म्म हैं।

---

[२४]

संस्कार (१) उपनयन

सुखदेव—गुरुजी, आपने जो कल संस्कार गिनाये थे, वे ब्राह्मणोंके ही हैं न ?

गुरुजी—नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंके है। ये तीनों वर्ण 'द्विज'—दो बार जन्म लेनेवाले कहे जाते हैं। इनका पहला जन्म माताके पेटसे और दूसरा उपनयन-संस्कारसे माना जाता है।

हरिलाल—लेकिन आपने कहा था कि उपनयन-संस्कार गुरुके पास विद्या पढ़नेके लिये होता है। सो वास्तवमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्णोंके लोग पढ़ते होंगे ?

गुरुजी—हां, इतना ही नहीं, किन्तु बहुत प्राचीन कालमें कन्याओंको भी यज्ञोपवीत दिया जाता था और उन्हे घर रख-

कर वेद पढ़ाये जाते थे। वे सिर्फ गुरुजीके यहां न जाती थीं और न भिक्षा मांगती थीं।

हरिलाल—गुरुजी, तो शूद्रके सिवाय सभी लोगोंको वेदोंकी शिक्षा मिलती होगी।

गुरुजी—हां। ऐसी बहुतसी जातियां देखनेमे आती हैं जो आजकल शूद्र गिनी जाती हैं, किन्तु जो असलमे क्षत्रिय वा वैश्य थीं। यदि इन सबको द्विजोंमे गिन लें तो तुम समझ सकोगे कि हिन्दुस्थानके कितने अधिक लोग द्विज थे और अनिवार्य उच्च शिक्षाका लाभ उठाते थे।

विचारचन्द्र—गुरुजी, असली शूद्रोंको वेदोंसे क्यों अपढ़ रखा जाता था?

गुरुजी—इस विषयकी व्याख्यामे जो कुछ मैं कहूं उसे सुनो। मूल शूद्र आर्य-जन-समाजके बाहरके अनार्य लोग थे। वे जैसे जैसे आर्य लोगोंके सम्पर्कसे सुधरते गये वैसे वैसे वे आर्य जन-समाजमे शामिल किये गये। उनमेसे कितनोंहीको वेद और ब्रह्मविद्याका उपदेश मिला, यह बात तुम्हारे जाननेमे है। जानश्रुति पौत्रायणका दृष्टान्त जो मैंने उस दिन सुनाया था, उसे याद करो। शूद्र लोग प्रायः वेदमन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण नहीं कर सकते थे, इसकारण उन्हें वेद सिखानेमें न आते थे। और यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि उस समयमे वेदका सीखना अधिकारकी अपेक्षा विशेष रूपका कर्त्तव्य था, इस-कारण जङ्गली दशामेंसे हालहीमे निकले हुए और बिलकुल दरिद्र वा अज्ञानी वर्गपर वेद पढ़नेका भार रखना कदापि

उचित न होता। फिर इस बातका विचार करना चाहिये कि आर्य लोग फैलते फैलते कितनी तरहके न्यूनाधिक जङ्गलीपन रखनेवाले अनार्य लोगोंके साथ संवन्धमें आये होंगे, इन सबके सिरपर वेद-विद्याके पढ़नेका भार डालना क्या यह सम्भव था? किन्तु कालक्रमसे वेदकी संस्कृत भाषामेंसे लोककी संस्कृत भाषा बनी, और उसके साथ ही साथ शूद्र लोग भी अधिक आर्य बनते गये, इसलिये इस नई लोकभाषाके द्वारा वेदकी समस्त विद्या शूद्रोंको भी पढ़ाई जाने लगी। शूद्रके लिये वेदोंकी शिक्षाका निषेध है, यह मानना अनुचित है।

यहांके एक एक विश्वविद्यालयमे (गुरुकुल) मे सहस्रों छात्रोको शिक्षा मिलती थी, जिस प्रधानाध्यापकके गुरुकुलमे एक सहस्रसे अधिक ब्रह्मचारी विद्याध्ययन किया करते थे उस अध्यापकका नाम कुलपति होता था। अनुमान डेढ़ सहस्र वर्ष पहिलेतक इस बीचके युगमे भी नालन्द और तक्षशिला जैसे अनेक जगह प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय थे, जिनमे दस दस सहस्र ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करके लाभ उठाते थे।

सब लड़के यह भलीभांति समझ गये कि भारतमे शिक्षाका प्रचार बहुत व्यापक था। इस प्रसङ्गपर विचारके बाद उस दिनका काम शुरू हुआ।

गुरुजी—अब हम उपनयन-संस्कारकी बात शुरू करें। उपनयनका नियम यह है कि गर्भसे वा जन्मसे आठवे वा दसवें वर्षमे ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, और ग्यारहवें वर्षमे वैश्यका उपनयन होना चाहिये। ब्राह्मणसे विद्योन्नतिकी

सबसे अधिक-आशा-की जाती है, इसलिये उसका उपनयन-काल सबसे पहले आरम्भ होता है, और इसी रीतिसे वैश्यका सबसे देरमे।

[२५]

विवाह

तपत्पश्चात् बारह वर्ष अथवा विद्या पूरी होनेतक ब्रह्मचर्य पालनकर विद्यार्थी गुरुके घर रहता है। पढ़नेके विषयोमे पहले वेद, वेदसे सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञके रहस्य और विधिके ग्रन्थ, "गाथा" अर्थात् महापुरुषसम्बन्धी काव्य, "नाराशंसी" अर्थात् महापुरुषोकी प्रशंसाके कवित्त, इतिहास अर्थात् सच्ची घटनाओका और बड़े पुरुषोके चरित्रका यथार्थ वर्णन और "पुराण" सृष्टिसे आरम्भ कर विविध युगोकी कथायें—इतने विषयोमे सामान्य रूपसे शिक्षा हुआ करती थी, जिसके द्वारा विद्यार्थीको ईश्वर और धर्मका ज्ञान होता था तथा उसका हृदय उच्च और पराक्रमी बनता था। इन विषयोके कितने ही अंश तो ब्राह्मण ही मुख्यतया पढ़ते होगे, कितने ही विषयोपर क्षत्रिय और कितनोहीपर वैश्य विशेष ध्यान देते होगे। इनके सिवाय, धनुर्विद्या, शिल्पशिक्षा इत्यादि जुदे जुदे वर्णोके लिये कितने ही विशेष विषय भी होते थे।

विद्याध्ययनके समाप्त होनेपर समावर्तन कर अर्थात् घर वापिस आकर विवाह करना चाहिये। विवाहकी विधिमे कन्याके

माता-पिताको वरपक्षसे कुछ भी न लेना चाहिये, यदि वे कुछ लें तो कन्या-विक्रयका (लड़की बेचनेका) पाप उन्हें लगता है। वह हमारे आर्य्यधर्मका बड़ा नियम है। कुटुम्ब पापी या रोगी मनुष्योंका न हो, यह पहले देख लेना आवश्यक है। विद्वानको ही कन्या देना वह दूसरा नियम है और कन्यामें बुद्धि, रूप, शील, (चरित्र) और लक्षण इत्यादि गुण होने चाहिये। विवाहकी विधिमें निम्नलिखित बातें हुआ करती है। ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्याध्ययन कर वर आता है और कन्याके मा-बापसे कन्याके लिये प्रार्थना करता है। कन्याके मा-बाप उसका मधु-पर्कसे (मधु, घी आदि अतिथि-सत्कारकी वस्तु) सत्कार करते हैं। फिर वे गार्हपत्य घरकी अधिदेवतारूपी अग्निकी स्थापना कर वरकी दाहिनी ओर कन्याको बिठाते हैं। फिर वर कन्याका ग्रहण कर कहता है, "मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं, तुझे अच्छी सन्तान हो और मेरे साथ तू भी दीर्घायु हो, अर्यमा सविता और पुरन्धि इन देवताओंने तुझे गृहस्थाश्रम चलानेके लिये मुझे दिया है, तेरी शुभदृष्टि हो, पतिकी तुझसे कोई हानि न हो, पशुओंका तुझसे कल्याण हो। तू सुन्दर मनवाली और सुन्दर तेजवाली हो, तुझे जीवित पुत्र हो और वे वीर निकलें', तुझसे सबको सुख हो, मनुष्य और पशुओंका तुझसे कल्याण हो।"

फिर वर कन्यासे अग्निमे होम कराता है उस समय वह कहती है, "मेरे पति दीर्घायु हों और मेरे सगे सम्बन्धी सुखी हो।" फिर अग्निके पास "सप्तपदी" अर्थात् वर कन्याके

साथ साथ चलनेकी विधि होती है। इसमें अन्न, जल, व्रत,सुख, पशु, लक्ष्मी और विद्या तेरे साथ आवें, इस प्रकार वर क्रमसे एक एक वस्तु मांगता है और सातवां पैर रखते ही वह कहता है, "हम दोनों अब सात पैर चलानेवाले मित्र हुए, मेरी तेरी मित्रता हो, मैं तेरी मैत्रीसे छूटूं नहीं और मेरी मैत्रीसे तू न छूटे।" पीछे पत्नी पतिके घर जाया करती है।

विवाहकी यह विधि तो प्रधान है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकारके विवाहोंकी विधियां स्मृति ग्रन्थोंमे पाई जाती हैं, जो उन ग्रन्थोंके देखनेसे जानी जा सकती हैं।

---

[२६]

पञ्च महायज्ञ

वसन्त—गुरुजी, आपने कल उपनयन और विवाहका जो वर्णन किया था वह हमे बहुत ही अच्छा लगा। इन क्रियाओं-मेंसे हम दो एक सारकी बातें समझे हैं जो कदाचित् सत्य हो—एक तो गुरुके साथ विद्यार्थीको एकमन होकर अध्ययन करना, और दूसरी पति-पत्नीको एक दूसरेका मित्र, एक घरके दो इकट्ठे मालिक होकर रहना, तथा गृहस्थाश्रमका सुख भोगना।

गुरुजी—ठीक है। लेकिन गृहस्थाश्रमकी बाबत एक बात विशेष रूपसे समझनेकी जरूरत है। वह यह है, कि गृहस्था-श्रम केवल सुख भोगनेके लिये नहीं, बल्कि अग्निकी साक्षीमें

अर्थात् ईश्वरको साक्षी समझकर गृहस्थाश्रमके कर्त्तव्य करनेके लिये है। उन कर्त्तव्योंका स्मरण रखनेके लिये हर एक गृहस्थाश्रमीको "पंच महायज्ञ" करनेकी आज्ञा है। ये यज्ञ बड़े महत्वके हैं, और यद्यपि इनकी क्रियाएं वहुत सरल हैं तो भी गृहस्थाश्रममे इनका महत्व इतना अधिक है, कि ये महायज्ञ कहलाते हैं। वे महायज्ञ ये हैं—(१) देवयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) ब्रह्मयज्ञ, (४) भूतयज्ञ और (५) मनुष्य-यज्ञ।

देवयज्ञ—अर्थात् देवताका पूजन। इस पूजनमें प्राचीनसे प्राचीन अग्नि-पूजा और सूर्य-पूजा है। अग्नि-पूजामें अग्निकी स्तुति कर अग्निमें आहुति दी जाती है, और सूर्य-पूजा हमारी सन्ध्या है। प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल, इन तीनों समय सन्ध्या करनेकी आज्ञा है। इसमें स्नान कर धुला वस्त्र पहिन, पूर्व दिशामें बैठ पहले भस्म लगाना चाहिये, फिर शिखा बांध, शरीरके जुदे जुदे अवयवो और इन्द्रियोंमें वल और प्रभुके वासकी परमात्मासे प्रार्थना की जाती है, तथा प्राणायामसे (श्वासोच्छ्वासके रोकनेसे) प्राण और आत्मा वशमे किये जाते है। फिर सन्ध्याका मुख्य काम शुरू होता है। उसमें पहले मार्जन, फिर अघमर्षण, फिर अर्घप्रदान, फिर उपस्थान और अन्तमे गायत्रीजप होता है। देहपर जलके छींटे डालकर देहकी शुद्धि करना मार्जन कहलाता है। फिर अघमर्षणमे अर्थात् पापोंके क्षमा करानेकी विधिमे जल सूंघकर फेंक दिया जाता है। यह विधि इसलिये है कि एक वार सूंघा हुआ पाप यदि सचमुच फेंक दिया जाय तो उसकी क्षमा ईश्वरसे अवश्य

मिलती है। फिर अर्घप्रदानमें गायत्रीमन्त्र पढ़ सूर्यको जलकी तीन अंजलियां दी जाती हैं। तत्पश्चात् सूर्यनारायणकी सेवामें मानो तत्पर हाथ सूर्यको दिखाकर स्तुति की जाती है। इस स्तुतिका मुख्य अभिप्राय यह है कि सूर्य, जो सब देवताओंका नेत्र है, अपने तेजसे आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष परिपूर्ण कर रहा है, और स्थावरजंगम सभी पदार्थोंकी वह आत्मा है। अन्तमें गायत्रीमन्त्रका जप किया जाता है। इसमें पृथ्वी (भूः), अन्तरिक्ष (भुवः) और स्वर्ग (स्वः), इस प्रकार तीनों लोकोंका स्मरण कर, फिर यह गायत्री यथाशक्ति १०८ अथवा अधिक बार स्थिरचित्तसे जपनी चाहिये—"उस परमात्मा सविता देवका यह तेज—जो प्रेमसे प्रार्थना करनेयोग्य है—उसका हम ध्यान करते हैं—जो देव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे।"

मैंने तुमसे एक बार कहा था कि वेदके समयकी अग्निपूजा आजकलकी शिवपूजामें परिणत हो गयी है—अग्निकी वेदी जलाधारी है, उसकी ज्वाला शिवलिङ्ग है, ज्वालाका अन्तर्गत धुआं शिवकी जटा है, अग्निमें होम करनेकी घीकी धार शिवलिङ्गपर जलका अभिषेक है, और अग्निहीको 'महान देव' कहकर 'वृषभ' की उपमा दी गई है, उसके कारण महादेवके सामने नन्दीकी स्थापना की जाती है, और लोग शिवजीके प्रसादरूपसे भस्म लगाते हैं। इस प्रकार अग्निके स्थानमें शिवजीकी पूजाका आरम्भ हुआ। और इसी प्रकार सूर्यके स्थानमें विष्णुकी पूजा होने लगी। विष्णु तो पहलेहीसे एक आदित्यरूपसे प्रसिद्ध थे, इसकारण विष्णु सूर्यके स्थानापन्न सरल रीतिसे हो गये। रक्षा

करना भगवान विष्णुका काम है, इसकारण उनके अवतार हुए, और उनकी भक्तिसे ही राम, कृष्ण आदिकी उपासना और सम्प्रदाय चले। जो कट्टर वैष्णव वा शैव होते हैं, वे या तो केवल विष्णुकी—राम अथवा कृष्णकी—मूर्त्तिकी वा केवल शिव, पार्वती और उनके पुत्र गणपतिहीकी पूजा किया करते हैं। किन्तु हिन्दुओंका बड़ा वर्ग, जो एक ही सम्प्रदायका अनुयायी नहीं है, शिव और विष्णु और दोनोंको एक मानता है, और शिव, विष्णु, सूर्य, गणपति और अम्बिका (माता) इस 'पञ्चायतन' की पूजा करता है। ईश्वर एक ही है, किन्तु पांच जगह प्रकट होनेके कारण उसे पांच जुदे जुदे नाम प्राप्त होते हैं। इसकारण वे पञ्चदेव न कहलाकर 'पञ्च-आयतन' कहे जाते हैं। हर एक ब्राह्मणको सन्ध्या करनेमें सूर्यरूपसे परमेश्वरका ध्यान करना पडता है, इसलिये पञ्चायतनमें एक तो सूर्य है, दूसरे दो शिव और विष्णु हैं—'शिव' यह सुखमय मंगलमय परमेश्वरका नाम है, और 'विष्णु' यह उस सर्वव्यापक प्रभुका नाम है, जो इस सृष्टिकी रक्षाके लिये अवतार लेते है। चौथे उसी एक परमात्माका ही नाम "गणपति" है, जो सब विघ्नोंका नाश करते है और विद्याके देवता हैं, और पांचवीं 'अम्बिका' अर्थात् माताजी हैं। वे परमेश्वरकी शक्ति हैं, उनमेंसे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। अतएव सब मिलकर कहो कि जगत्के माता पार्वती परमेश्वरको हमारा नमस्कार है—*जगतः पितरौ वन्दे. पार्वती परमेश्वरौ!* (सब मिलकर एक स्वरसे कहते है)

आजकल बहुतसे प्राचीन पन्थके हिन्दुओमे भी यह एक ही

देवयज्ञ रहा है, लेकिन इसके सिवाय ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ आदि भी कुछ कम महत्वके नही।

ब्रह्मयज्ञ—वेद पढ़ना ही ब्रह्मयज्ञ है। इसमें वेदकी सामान्य रचनाका और उसके कितने ही मन्त्रोंका नित्य स्मरण करनेमे आता है।

पितृयज्ञ—इसमे परलोकगत माता-पिता और दूसरे सगे-सम्बन्धियोका स्मरण कर उन्हें जलकी अञ्जलियां दी जाया करती हैं। इसे 'तर्पण' कहते हैं। इसी रीतिसे देवता और ऋषियोंके जुदे जुदे नाम लेकर भी तर्पण किया जाता है। अपने पूर्वजों और बड़े ऋषियोको देववत् समझकर उनका मान करना और सदा स्मरण रखना ही इस विधिका मुख्य हेतु है।

भूतयज्ञ—प्राणीमात्रका भला चाहकर उन्हें भी अपने अन्नमेंसे भाग देना यह भूतयज्ञ है। गृहस्थ मनुष्य 'वैश्वदेवमें' ठेठ चीटीपर्यन्तके प्राणियोके लिये अग्निके सामने भातका बलिदान रखता है और फिर घरके बाहर जाकर पशु, पक्षी और कीट अर्थात् प्राणीमात्रको रोटी भात आदि डालता है। यो तो हिन्दू (आर्य) गृहस्थके लिये प्राणीमात्रके निमित्त अपने अन्नमेसे विभाग निकालनेकी आज्ञा है, किन्तु उसके लिये गोरक्षाका विशेष माहात्म्य हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है। यजुर्वेदमें चलते ही पहिले मन्त्रमे "गाव अघ्न्या" बतायी गयी हैं। इसका अर्थ यह है कि गौओंको तो सर्वदा ही पालने और उनकी रक्षा करनेकी आज्ञा दी गई है। किसी भी कारण गोहिंसा महापातक माना गया है। गो एक ऐसा प्राणी है,

जिससे मनुष्यको लाभ ही लाभ पहुंचता है। जैसा गोघृत गुणकारी है, वैसा और पशुओंका नहीं। गोकी महिमा कहांतक वर्णन की जाय, इसके गोबर मूत्रतक अनेक रोगोंके जन्तुओंको मारनेमें परमोपकारी हैं। आयुर्वेदमें इन चीजोंके अनेक गुण लिखे गये हैं। हमारी खेती तथा अन्य कामोंके लिये जैसे बैल उपयोगी हैं, वैसे अन्य पशु नहीं।

गो साक्षात् क्षमा और शान्ति तथा परोपकारकी मूर्त्ति है। इसलिये हिन्दुओंके सभी सम्प्रदायोंके मनुष्य कृतज्ञतावश गोरक्षाके प्रति आदर और प्रेम करना अपना कर्त्तव्य समझते है। आर्थिक दृष्टिसे भी गो एक बड़ा उपयोगी पशु है। क्योंकि भैंस आदि अन्य दूध देनेवाले पशुओंकी अपेक्षा इसपर कम खर्च करना पड़ता है और लाभ अधिक होता है।

मनुष्य-यज्ञ—यह अतिथि-सत्कार है। गृहस्थको हमेशा भोजनके पहले यदि कोई अतिथि आया हो तो उसका सत्कार कर और उसको खिलाकर स्वयं खाना चाहिये।

इस अतिथि-सत्कारको साधारण मिहमानदारी न समझना चाहिये। कोई भी भूखा-प्यासा अन्न-जल मांगता हुआ आवे तो उसे उन वस्तुओंको देना ही मनुष्य-यज्ञमें गिना जाता है। बालको! तुमने रन्तिदेव राजाकी कथा सुनी है?

कान्तिलाल—हमने नहीं सुनी है, कृपया कहिये।

गुरुजी—तो सुनो, बात तो छोटी है, लेकिन खूब याद रखने-योग्य है। पूर्वकालमे रन्तिदेव नामका एक राजा था। उसने बड़े बड़े यज्ञ कर उन यज्ञोंमें अपना सब धन ब्राह्मणोंको दे

डाला था। एक दिन वैश्वदेव कर कोई अतिथि आया है, यह देखने वह बाहर गया और वहा उसने चिल्लाकर पूछा कि कोई भूखा-प्यासा है? वहां एक चाण्डाल पड़ा हुआ था, वह खड़ा होकर कांपता-लथड़ता राजाके पास आया और कुछ खानेको मांगा। राजाके घरमे थोड़ा ही खानेको रहा था तो भी उसने उसे उस भिखारीको दे दिया और स्वयं अन्न विना खाये घरमे थोड़ा पानी था, उसे ही पीकर दिन काटनेका विचार किया। इधर भिखारीने रोटी खाकर पानी मांगा। वह भी उसने दिया। अब अपने प्राण धारण करनेका भी साधन न रहा। वे भिखारी जो चाण्डालके रूपमे आये हुए स्वयं धर्मराज थे, उसके सामने प्रकट हुए और राजासे कहा, मैं तेरा परोपकार देख बहुत प्रसन्न हूं—मांग, जो मांगेगा वही वरदान दूंगा। उस समय राजाका दिया हुआ उत्तर सुननेके योग्य है। राजाने कहा—"धर्मराज! जो तुम मुझपर प्रसन्न हुए हो और वरदान मांगनेको कहते हो तो मैं इतनी बात मांगता हूं कि मुझे स्वर्ग न चाहिये, मोक्ष न चाहिये, मुझे तो इतना चाहिये कि जो प्राणी दुःखी हों उनके अन्दरमे रहकर उनका दु.ख मैं भोगूं।"

धर्मशिक्षणकी सारी क्लास इस मनोहर कथाको सुन स्तब्ध हो गई। फिर उनमेसे एक बालकने पूछा।

रमाकन्त—गुरुजी, धर्मराजने चाण्डालका वेश किस रीतिसे लिया होगा?

गुरुजी—धर्मराजने चाण्डालका वेश धारण किया और अन्न-पानी मांगा, इसका अर्थ यही है कि इस चाण्डालने जो

अन्न-पानी मांगा, वह धर्महीने मांगा था। धर्म ही हमें कहता है कि नीचसे नीच श्रेणीका मनुष्य भी यदि भूखा प्यासा हो और हमारे पास अन्न-जल मांगने आवे तो हमे उसे देना ही चाहिये, अर्थात् देना ही हमारा धर्म है।

---

[२७]

श्राद्ध

आश्विन मासका यह कृष्णपक्ष है, इसमें हिन्दू गृहस्थ श्राद्ध किया करते हैं।

गुरुजी—क्या तुम श्राद्धका अर्थ समझते हो?

बालक—श्राद्धका अर्थ सरस भोजन करना है।

गुरुजी—(हँसकर) श्राद्धका अर्थ जीमना नहीं। हमारे बड़े प्राचीन रिवाजोंके गूढ़ अर्थको तो लोग भूल गये हैं और उनके केवल बाहरी आडम्बरमात्रका अनुसरण करने लगे हैं। श्राद्धके विषयमें भी ऐसा ही हुआ है। हम जैसे देवताओंकी पूजा करते हैं, उसी रीतिसे हम अपने पूर्वजोंका, स्वर्गस्थ मा-बाप और दूसरे सगे-सम्बन्धियोंका स्मरण कर, मानो वे जीवित ही है इस भांति विचारकर, उनका पूजन करते है। इसीका नाम श्राद्ध है। जो श्रद्धासे किया जाय, वही श्राद्ध कहलाता है। श्रद्धाका अर्थ विश्वास है। यदि वे स्वर्गमे भी है तो भी हमे भूलें नहीं, और इसलिये हमे भी उन्हें भूलना न चाहिये—यही श्राद्धका तात्पर्य है। अतएव हमारे शास्त्रकारोने उनके स्मरण

करनेके लिये कुछ दिन नियत कर दिये हैं। असलमे तो हर एक महीनेमे श्राद्ध करनेका रिवाज था, किन्तु इस मासिक श्राद्धके कुछ दुष्कर होनेके कारण अब केवल वर्षमें एक बार मरण-तिथिके दिन तथा आश्विनके पितृपक्षमे तिथिके अनुसार एक दिन श्राद्ध करनेका रिवाज हो गया है।

शंकर—गुरुजी! यह रिवाज बहुत अच्छा है, इससे हम अपने सगे-सम्बन्धियोंको कभी न भूलेंगे।

गुरुजी—और उन्हें जो अच्छा न लगे उस कामके करनेसे हमें शरमाना चाहिये, क्योंकि हमारे शुभ कर्मोंसे वे प्रसन्न होते हैं और खोटे कर्मोंसे दुःखी होते हैं। अपने पूर्वजोंपर भक्ति रखना और उन्हे स्मरण कर उनके सदृश पराक्रमी होना, तथा जो हमारे प्राचीन पूर्वजोंमे बड़े बड़े ऋषि, तपस्वी और ग्रन्थकार हो गये हैं उनके नामका भी स्मरण करना इत्यादि हमारे शास्त्रकी विधि है, इसलिये नित्य देव-तर्पणके साथ साथ ऋषि-तर्पण और पितृ-तर्पण करनेका आदेश है। यही बात मैं पहले पंच महायज्ञमे पितृयज्ञके विषयमे कह चुका हूं। तर्पणका अर्थ तृप्त करना या प्रसन्न करना है। जिससे पितृलोग प्रसन्न हों वैसा ही आचरण करना, यही तर्पणका गूढ़ अर्थ है। वह तर्पण जलकी अञ्जलि देकर किया जाता है। अपने पूर्वजोंसे हम अपना सम्बन्ध सदा अविच्छिन्न रखें, यही इस क्रियाका प्रयोजन है।

उमापति—महाराज, क्या ऐसे रिवाज पृथ्वीकी दूसरी प्रजाओमे भी हैं?

गुरुजी—हां, ईरान, ग्रीस, रोम आदि अनेक प्राचीन

प्रजाओंमें यह रिवाज था। यह पारसियोंमें अबतक है और जापानमें भी है। कुछ समय पहले रूस और जापानका युद्ध हुआ था, उसमें जापानवासी यह माना करते थे कि उनके बाप-दादे अभी जीवित हैं और उनकी तरफसे युद्धमें लड़ रहे हैं।

---

[२८]

व्रत, उत्सव और यात्रा

कुछ दिन हुए प्रयागमें कुम्भमेला होनेका समाचार प्रकाशित हुआ था। अभी संयुक्तप्रान्तमें महाशिवरात्रिके उत्सवपर काशीविश्वेश्वरके दर्शनार्थ जानेवाले लोगोंके लिये खास ट्रेनें चली थीं, यह समाचार पढ़ा है। होलीके त्यौहारके समीप होनेके कारण, 'होली संशोधक मण्डली' की ओरसे किये जानेवाले कामका समाचार पत्रोंमें आज ही प्रकाशित हुआ है। अतएव गुरुजीने हिन्दूधर्मके व्रत, उत्सव और यात्रासम्बन्धी लड़कोंको कुछ परिचय देनेका विचार किया। इतनेमें वसन्त पूछ बैठा—गुरुजी, आपने जो महायज्ञ बतलाये, उनके सिवाय दूसरे महायज्ञ भी हमने रामायण और महाभारतमें पढ़े है। रामचन्द्रजीने अश्वमेध यज्ञ किया था और युधिष्ठिरने राजसूय किया था। क्या ये सब महायज्ञ नहीं ?

बहुत लोग इसमें भाग लेते हैं और ये बहुत दिनतक चलते हैं, इसकारण ये महायज्ञ कहे जाते हैं। लेकिन ईश्वरकी भक्ति करना, विद्या पढ़ना, पूर्वजोंका स्मरण रखना; भूखे-प्यासोंको

अन्न-जल देना और प्राणीमात्रके प्रति दया रखना अथवा उन्हे पालना—ये पांच तो हर एक आदमीको करने ही चाहिये, और वे बहुत ही आवश्यक है, अतएव महायज्ञ हैं—

चुन्नीलाल—गुरुजी, क्या इन दो तरहके यज्ञोंके सिवाय तीसरी तरहके भी कुछ यज्ञ होते हैं?

गुरुजी—हां, हर एक ऋतुमें करनेके यज्ञ हैं।

सत्यदेव—अब तो इन्हें कोई करता नही।

गुरुजी—करते हैं। जैसे अग्निपूजामेसे शिवपूजा निकली और इसी प्रकार वैदिक धर्मके बाहरी आकारमे दूसरे बहुत फेरफार हुए, वैसे ही इस धर्मके प्राचीन यज्ञोंने भी नवीन रूप धारण कर लिया है। तुमने नवरात्रके दिनोमे जौ बुवाये थे और माताके आगे होम किया था, यह उस समयका यज्ञ था जब वर्षाऋतुका अन्त और शरदृऋतुका आरभ हुआ था। इसी प्रकार अब थोड़े दिन बाद तुम होली जलाकर उसमे नये आमका मौर, गेहूंकी बालें आदि होम करोगे, यह क्या है? यह वसन्तऋतुका यज्ञ है। इन सब यज्ञोका यह तात्पर्य है कि प्रभु-कृपासे इस जगत्मे हमें जो जो अच्छे पदार्थ मिलते हैं, उन्हे प्रभुको समर्पण कर हमे काममे लेना उचित हैं। इन यज्ञोको यदि हम सब मिलकर करे तो ये उत्सव बन जाते हैं। हमारे सब उत्सव इस रीतिसे अमुक ऋतुके यज्ञमेसे अथवा अमुक देवताके यज्ञमेसे उत्पन्न हुए हैं। इसके सिवाय यज्ञ करनेवालेको पवित्रतासे इन्द्रिय और मनको वशमें करनेके कितने ही नियम पालन करने होते हैं। उन नियमोंको 'व्रत' कहते हैं, जैसे अमुक समयतक

न खाना—केवल फलमात्र खाकर रहना—जिससे यह स्थूल शरीर वशमे रहे, इन्द्रिय और मन पवित्रताके मार्गमे चलें। सोम-प्रदोष, एकादशी, शिवरात्रि आदि उपवास मन और इन्द्रियो-को वशमें कर ईश्वरका भजन और पूजन करनेके लिये ही होते हैं। हिन्दू-धर्मकी पुस्तकों और लोकरूढ़िमे तीर्थयात्राकी बड़ी महिमा है। इस प्रकारकी ईश्वर-भक्ति बड़े उत्कट प्रेमसे करनी चाहिये। जहां नदी, पर्वत, वन आदि स्थलोमे प्रभुकी ललित लीलाये विशेषरूपसे दृष्टिगोचर हों, उन स्थलोमे जाना शास्त्रमे कहा गया है। हिमालयसे गङ्गाजी निकलती हैं। आगे चलकर गङ्गाजीके साथ यमुना मिलती हैं, और आगे चलकर गङ्गा-यमुनाका मिला हुआ जल लहराता लहराता एक स्थलपर दिशा बदलता है, और उसके साथ दूसरी छोटी नदियां मिलती है। ये दृश्य बहुत भव्य और रमणीक होते हैं। इसकारण गङ्गाद्वार, बदरिकाश्रम, हरिद्वार, प्रयाग, काशी आदि यात्राके स्थान बने हैं। इसी प्रकार जहांपर राम, कृष्ण, व्यास आदि महापुरुष बसे कहे जाते हैं, वे स्थल भी इन महापुरुषोके सम्बन्धसे बड़ी महिमाके गिने जाते हैं। जैसे मथुरा, द्वारिका आदि नगरियां तथा नर्मदा, गोदावरी आदि नदियोके किनारोके तीर्थस्थान।

यात्रासे बड़ा भारी लाभ यह है कि भिन्न भिन्न देश और मनुष्योंके समागम और महात्माओके सत्सङ्गसे ज्ञान और प्रेमकी वृद्धि होती है। तीर्थोंकी यात्राका यही तात्पर्य है!

[२९]

सामान्य धर्म

पहले दिन गुरुजीने यह कहा था कि कल धर्मशिक्षणकी कक्षा पाठशालाके मकानमे होगी। तदनुसार दूसरे दिन स्कूल खुलते ही विद्यार्थीगण क्या देखते हैं कि धर्मशिक्षणके विशाल भवनके द्वारपर और अन्दरकी दीवारोंपर सुन्दर शिलालेख लग रहे हैं। उनमे सीधे, मरोड़दार तरह तरहके रङ्गविरङ्ग और सुन्दर बेलसे अलंकृत अक्षरोंमे हिन्दू-धर्मकी पुस्तकोंमेसे अच्छे अच्छे वचन (हिन्दी भाषानुवादसहित) उद्धृत थे। प्रविष्ट होते ही ड्योढ़ीकी मिहराबपर यह लिखा था:—

यतो धर्मस्ततो जयः ।

'जहां धर्म वहां जय' यह बड़े सुनहरी अक्षरोंमे लिखा हुआ था। और उसके नीचे इस तरहका लेख था:—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत मानृतम् ।

दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥

धर्म करो, अधर्म मत करो, सत्य बोलो, असत्य न बोलो; दीर्घ दृष्टि रखो, संकुचित दृष्टि न रखो, दृष्टि ऊंची रखो, नीची न रखो। अर्थात् उदारता रखो।

फिर अन्दर आते हुए सामनेकी भीतपर यह लिखा था—

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

सच बोल, धर्म कर, अपने विद्याभ्यासमे त्रुटि न कर।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्चयत्।

गीता अ० १७ श्लो० १५

वाक्य जो बोला जाय, वह किसीको उच्चाटन करनेवाला न हो, साथ ही सत्य, मीठा और हितकारी हो।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेच्छा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, काम क्रोध लोभ मोह न करना, और प्राणीमात्रके प्रिय और हितकी इच्छा करना, यह सब वर्णोका धर्म है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें करना, यह चारों वर्णोंका साधारण धर्म मनुजीने बतलाया है।

इसके सामने दीवारपर बड़ा शिलालेख है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्त निबोधत॥

विद्वान् जो सत्पुरुष हो और सदा रागद्वेषसे मुक्त हों वे जिसकी सेवा करते हों और जो हृदयसे पसन्द हुआ हो उसे तुम धर्म समझो।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

धर्मका सार सुनो और सुनकर हृदयमें धारण करो। वह यह है कि जो हमे अपने लिये अनुकूल न हो वह दूसरोके लिये न करना चाहिये।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

आधे श्लोकमे मैं तुम्हें वह बात कहूंगा जो करोड़ों ग्रन्थोंमे कही गयी है। और वह यह है कि दूसरेका उपकार करना पुण्य है, और दूसरेको पीड़ा देना पाप है।

दूसरी दो दीवारोंपर आमने-सामने लेख थे। एकमें यह खुदा हुआ था—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पत् (शुण-वृत्ति) मोक्ष देती है, आसुरी संपत् बन्ध उत्पन्न करती है। और इसके सामने लड़कोकी सदा दृष्टिमे रहे, इस प्रकारसे एक निम्नलिखित श्लोक गहरे रङ्गसे अङ्कित था—

आदित्यचन्द्रानिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदय यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, नियन्ता ईश्वर, दिन, रात्रि, प्रभात, और सायंकाल और धर्म स्वयं ही इस मनुष्यके आचारणको जानता है।

बालक इन सबको पढ़ते हैं। इतनेमे कुछ देर बाद पाठशालाका घण्टा बजा और धर्म-शिक्षणकी क्लास आकर इकट्ठी हुई। गुरुजी आये, सबने नमस्कार किया और शिक्षणका काम शुरू हुआ।

गुरुजी—बालको, क्या तुम्हें सजाया हुआ यह भवन अच्छा लगता है ?

वसन्त—जी हां,बहुत सुन्दर लगता है। हमेशा इस प्रकारसे ही रखा जाय तो कितना अच्छा हो।

गुरुजी—अच्छा, ऐसा ही रखेंगे, पर साथ ही साथ तुम भी शिलापर खुदे हुए वाक्योंको अपने मनमें अङ्कित रखना।

रमाकान्त—गुरुजी, इन्हें हम बार बार पढ़ेंगे और याद रखेंगे। हमें ये बहुत पसन्द हैं। किसने इन शिलाओंपर श्लोक खोदकर लिखे हैं ?

गुरुजी—मुरारि नामक एक चित्रकारने इन्हें लिखा है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, मैं उसे जानता हूं। मेरे घरसे वह थोड़ी ही दूर रहता है। वह बहुत अच्छा आदमी है।

गुरुजी—वह मनुष्य बहुत अच्छा है वा चित्रकार बहुत अच्छा है ?

विचारचन्द्र—गुरुजी, वह आदमी बहुत अच्छा है, इसे तो हम नेत्रसे ही देख रहे हैं।

गुरुजी—अच्छा,वह चित्रकारका काम तो अच्छा करता है, लेकिन वह दारू पीकर पड़ा रहता है और काम समयपर करके नहीं देता, सागुनके तख्ते कहकर देवदारके तख्ते लगाता है और अपनी मिहनतके अनुसार दाम न लेकर हमें धोखा देता है—भला ऐसे आदमीको हम कैसा कहें !

विचारचन्द्र—वह चितेरा चाहे जैसा हो,पर आदमी खराब है।

गुरुजी—अच्छा, तो एक बात सब ध्यानमें रखो कि मनु

ष्यके अपने अपने विशेष धन्धेकी जानकारीके अलावा हर एक मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये कितने हो सामान्य रीतिके गुण सीखने चाहिये। इन गुणोको हिन्दू-धर्मके शास्त्रोंमें '*सार्ववर्णिक*' अर्थात् सब वर्णोके सामान्य धर्म बतलाये हैं। विशेष धर्म— अमुक वर्णके खास धर्म चाहे जितने हम क्यो न पाले पर सामान्य धर्मके विना वे निरर्थक हैं।

वे धर्म उस भीतकी पट्टियोपर लिखे हुए हैं जिन्हें तुमने पढ़ा होगा।

रमाकान्त—हां महाराज, इनमे जो आधे श्लोकमे अधर्मकी व्याख्या दी गयी है, वह मुझे बहुत पसन्द है :—

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्

दूसरेका उपकार करना ही पुण्य है, और दूसरेको पीड़ा देना ही पाप है।

---

[३०]

आत्मा (१)

गुरुजी—बालको! परमेश्वरके विषयमे हिन्दूधर्मका जो कथन है उस सम्बन्धमे हम यत्किञ्चित् समझ गये है, और इस दुनियामें हम किस तरह रहें कि परमात्मा हमें मिल सके, इस विषयपर भी हिन्दूधर्मके मुख्य विचार हम देख चुके हैं। अब हम अपने विषयके तीसरे भागकी आलोचना करते हैं। इस प्रसंगमे जो सवाल हमे हल करने होगे वे निम्नरीतिके हैं:—हम सचमुच कौन हैं? कहांसे आये हैं और हमे कहां जाना है?

यदि यह मान लिया जाय कि यह प्रत्यक्ष शरीर ही हमारी आत्मा है, हम जन्मके पहले कुछ भी न थे और मरनेके बाद भी कुछ न रहेंगे, इस शरीरकी चितामें भस्म होनेके बाद हमें कहीं किसीको जवाब देना नहीं, इसलिये खाओ पीओ मौज करो, तो ईश्वर और धर्मकी चर्चा करना उपहासमात्र है। यदि यही मत स्वीकृत हो तो अबतक परमेश्वर और उसके अनुकूल मार्ग-सम्बन्धी जो जो विचार हमने किये हैं वे सब निरर्थक है। पर यह मत ठहर नहीं सकता। वास्तवमें बात यह है कि हम आत्म-रूप हैं। वह आत्मा हमारी इस देहके जन्मसे पहले थी और मृत्युके समय हमारी देहके जलकर भस्म हो जानेपर भी रहेगी।

प्राचीन ऋषियोंके समयमें इस विषयको जाननेकी कैसी उत्कट इच्छा एक तुम्हारे ऐसे बालकको हुई, इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूं।

प्राचीन कालमें नचिकेता नामका एक विश्वासयोग्य बालक था। उसका बाप यज्ञमें बूढ़ी, कूबड़ी और खल्लड़ गायें ब्राह्मणोंको दानमें दे रहा था। यह देख नचिकेताने मनमें सोचा कि पिताजी निकम्मी वस्तुओंका तो दान कर रहे हैं, लेकिन अपनी एक भी प्रिय वस्तु नहीं दे रहे हैं, इसलिये इस यज्ञसे क्या लाभ? अतएव उसने पितासे कहा—"पिताजी। तुम निकम्मी वस्तुओंका दान तो करते हो, किन्तु एक भी प्यारी वस्तु किसीको तुमने नहीं दी।" उसने एक बार कहा, दो बार कहा। इतनेमें पिता चिढ़कर बोले—"ले तुझे ही मैं दे डालता हूं।"

नचिकेता—"आप किसे देंगे?"

पिता—(और चिढ़कर) "यमराजको।" नचिकेताने विचार किया कि जैसे यह अनाज उगता है और काटा जाता है वैसे ही मनुष्यका जन्म होता है और मृत्यु होती है—बहुत मरे हैं और बहुत मरेंगे, इसलिये मृत्युसे डरना नहीं। फिर उसने उत्तर दिया—"मुझे खुशीसे यमके घर भेजो।" पिताने उसे यमके घर भेजा। उस समय यमराज घरपर न थे। इसकारण उसे तीन दिन यमराजके घर भूख-प्यासे बाट देखते हुए पड़ा रहना पड़ा। यमराज घर आये और नचिकेताको देखकर, अतिथिरूपसे उसका सत्कार करनेमे विलम्ब हुआ इसकारण, उससे क्षमा मांगी, और तीन दिन बिना सत्कार उसे पड़ा रहना पड़ा, इसकारण वरदान मागनेके लिये उससे कहा। इसके अनुसार नचिकेताने वरदान मागे—हे यमराज! मृत्युके बाद मनुष्यकी क्या गति होती है, यह मुझे कहो। कुछ लोग कहते हैं कि मृत्युके बाद भी जीव रहता है, और कुछ यह कहते हैं कि उसका नाश हो जाता है—इनमेसे सच क्या है, यह मुझे बतलाओ।" यमराज कहने लगे—"नचिकेता, यह विषय बहुत सूक्ष्म है, इसे समझना सहल नहीं, इसलिये इसके बदले कोई दूसरा वरदान मांग लो।" यह कहकर यमराज उसे पुत्र-पौत्रका सुख, दीर्घ जीवन और हाथी, घोड़े, रथ, खजाने, महल इत्यादि संपत्ति देने लगे; परन्तु नचिकेताने इन्हें लेनेसे साफ इनकार किया और बड़े जोशसे कहा—"हे देव! इन हाथी, घोड़े रागरंगको अपने ही पास रखो। मुझे तो दुनियाके सारे सुख तृणसमान मालूम होते हैं। मुझे तो केवल एक ही वस्तु

चाहिये और वह यह है कि आत्मा है वा नहीं, और है तो कैसी है, मुझे यही बतलाइये।" यमराज नचिकेताका यह उत्तर सुन बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आत्माके विषयमें ज्ञान दिया।

इतना कहकर गुरुजीने पाठ समाप्त किया, लेकिन एक विद्यार्थी पूछ उठा—"गुरुजी, यमराजने जो नचिकेताको आत्माके विषयमें ज्ञान दिया था उसे तो आपने हमें बतलाया ही नहीं।"

गुरुजी—यमराजने नचिकेतासे कहा था कि यह विषय अति सूक्ष्म है। सचमुच तुम्हारी इस विषयमें उत्सुकता देख मैं बहुत प्रसन्न हूं। अतएव यमराजके दिये हुए ज्ञानमेंसे कुछ एक दो विषय तुम समझ सकते हो जिन्हें मैं बतलाता हूं।

यमराजने कहा—"नचिकेता, दो पदार्थ संसारमें मनुष्यके सामने आकर खड़े रहते हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय। (प्रेय अच्छा, प्रिय, मनपसन्द और श्रेय हितकारक) इन दोनोंमेंसे चतुर मनुष्य दूसरी वस्तु ही पसन्द करता है, और उसे ही तुमने पसन्द किया, इसकारण मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं। अब आत्माके विषयमें जो कहता हूं उसे सुनो। शरीर तो एक रथ है और इसमें रथके स्वामी-भांति अधिरूढ़ आत्मा है।

बुद्धि इसका सारथी है, मन इन्द्रियरूप घोड़ोंकी लगाम है और ये घोड़े विषयोंकी ओर दौड़ते हैं। इन्द्रियरूपी घोड़े इधर उधर, मनमानी ओर दौड़कर, रथको, अपने आपको, और रथमें बैठे हुए स्वामीको गड्ढेमें न डाल दें, इसकारण बुद्धिरूपी सारथी अच्छा होना चाहिये। यदि सारथी अच्छा होगा तो वह

रथके स्वामी अर्थात् आत्माको उसके परमपद—परमात्माके धामतक—पहुँचा देगा।"

नचिकेता इस ज्ञानको पाकर पिताके पास आया और पिताने उसे प्रेमसे बुलाया। दृष्टान्तरूपसे इस कथाका सारांश यह है कि जो श्रद्धावान् है, जो मरनेसे नहीं डरता, और जो दुनियाके सुखका लालची नही, वही आत्माको जान सकता है।

---

[३१]

आत्मा (२)

शरीरमें होते हुए भी शरीरसे जुदा है और जुदे प्रकारका है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, आपने कल हमें नचिकेता और यमराजकी बात कही वह हमे बड़ी रोचक लगी, पर उसमे यमराजने जो यह कहा कि आत्मा इस शरीररूपी रथमे बैठा हुआ रथका स्वामी है, समझमें नहीं आता। शरीरसे आत्मा जुदी किस रीतिसे हो सकती है?

गुरुजी—तुम्हारा प्रश्न उचित है। सारे दृष्टान्त अधूरे हैं, यह परमेश्वरके विषयमें बोलते हुए हमें कहना पड़ा था। क्या तुमने उस बातका स्मरण रखा है? उसी रीतसे यहां भी तुम्हें समझना चाहिये। श्वेतकेतु और उसके पिताकी कथा तुम्हें याद होगी। उन दोनोकी आपसकी बातचीतमे एक बात यह थी कि पिताने बहुत साधारण दृष्टान्तसे यह समझाया था कि शरीरसे जुदी आत्मा है और वह शरीरके एक कोनेमे—रथमें रथके स्वामीकी

भांति बैठी हुई नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीरमे व्याप्त है। पिताने श्वेतकेतुसे कहा "श्वेतकेतु ! जो इस झाड़के मूलमें कुल्हाड़ी चलायी जाय तो इसके जीवित होनेके कारण इसमेंसे रस निकलेगा, इसके बीचके धड़मे कुल्हाड़ी चलाई जाय तो भी इसके जीवित होनेके कारण इसमेंसे रस निकलेगा। परन्तु यदि इसकी शाखामेंसे जीवन जाता रहे तो वह सूख जायगी, दूसरी शखामेसे जीवन जाता रहे तो भी वह सूख जायगी, तीसरीमेंसे जाता रहे तो भी सूख जायगी—और इस क्रमसे यदि सारे वृक्षमेंसे जीवन चला जाय तो सारा वृक्ष सूख जायगा। तब यह समझना चाहिये कि जीवका वियोग ही मरना है। जीव स्वयं नहीं मरता, परन्तु इसके वियोग के कारण यह जिसमें रहता था वह देह मरती है।" इस प्रकार श्वेतकेतुके पिताने उसे एक सीधा दृष्टान्त देकर यह समझाया था कि देहमे आत्मा रहती है, पर वह देह आत्मा नहीं है।

फिर, यह आत्मा सचमुच कितना अद्भुत पदार्थ है और हमें कितनी प्यारी है, इसे समझनेके लिये एक बात सुनो—देवता और असुरोंने सुना कि आत्मा बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, भूख, प्यास आदि सब दोषोंसे रहित है, और प्रजापति इस विषयका ज्ञान देते हैं। अतएव देवताओंके राजा इन्द्र और असुरोंके राजा विरोचन, दोनों प्रजापतिके पास गये और ३२ वर्षतक ब्रह्मचर्य पालन कर उनके पास रहे। ३२ वर्ष होनेपर प्रजापतिने उनसे पूछा "हे इन्द्र और विरोचन ! तुम क्या सीखने आये हो ?" दोनोंने कहा "महाराज, आत्मा क्या वस्तु है, इसे जाननेके लिये हम आये हैं।" तब प्रजापतिने उनसे यह कहा—"देखो, आंखमें जो यह पुरुष देख पड़ता है, वही आत्मा है।"

इन्द्र-विरोचन—"पानीमे वा शीशेमें जो देख पड़ता है, क्या वही आत्मा है ?"

प्रजापति—"हां ।"

फिर दोनोने एक पानीभरे बासनमे देखा और आकर कहा—

"महाराज, हमने आत्माको देखा नखसे शिखतक, सिरसे पैरतक ।"

प्रजापति—"अच्छा ।"

फिर इन्द्र-विरोचन दोनो अपने अपने घर चल पड़े । विरोचन अपने असुरोके मण्डलमें पहुंचा और सबको यह वस्त्र अलङ्कार पहननेवाली देह ही आत्मा है, इस जड़वादका उपदेश दिया । लेकिन इन्द्रको इससे सन्तोष नही हुआ । वह आधे रास्तेसे ही पीछे फिरा और प्रजापतिके पास आया । ३२ वर्षपर्यंत ब्रह्मचर्य पालन कर फिर प्रजापतिसे हाथ जोड़कर उसने पूछा— "महाराज, ऐसी आत्मासे मुझे सन्तोष नही हुआ । इस शरीरको जैसे वस्त्र अलङ्कार पहनाये जाते है, वैसे ही वस्त्र अलङ्कारवाली यह आत्मा देख पडती है । यदि शरीर लङ्गड़ा हो तो वह भी लङ्गड़ी है, शरीरमे आंख नही तो वह भी अन्धी मालूम होती है । ऐसी आत्मामे मुझे कुछ भी अनुराग नही ।" तब प्रजापतिने कहा— "अच्छा, तो जो स्वप्नमे फिरती हुई वस्तु नजर आती है वही आत्मा है । इस उपदेशको सुन इन्द्र चला गया लेकिन फिर आधे रास्तेसे लौट आया और फिर ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन कर प्रजापतिके पास बैठकर पूछने लगा—"महाराज, यह तो ठीक है कि शरीरके अन्धे लूले होनेपर भी स्वप्नमे दिखाई देनेवाली

आत्मा अन्धी लूली नहीं होती, पर स्वप्नमे इस आत्माको यदि कोई मारता है तो वह दुःखी होती है, रोती है। ऐसी आत्मामें मुझे कुछ आनन्द प्रतीत नही होता।" फिर प्रजापतिने कहा—"अच्छा, तो स्वप्नरहित गहरी नीदकी दशामें जो रहता है वही आत्मा है।" इन्द्र इस उपदेशको सुनकर चला गया. लेकिन इससे सन्तुष्ट न होकर आधे रास्तेसे लौट और ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य्य पालन कर प्रजापतिसे कहा—"महाराज! यह तो सच है कि आपकी बतलायी हुई इस नयी आत्मामे कोई दुःख प्रतीत नहीं होता, किन्तु उस दशामें 'मैं हूं' यह गाढ़ निद्राके कारण कुछ भी प्रतीत नही होता। इस आत्मासे भला क्या लाभ! इसलिये मुझे तो ऐसी आत्मा भी इष्ट नहीं।" फिर प्रजापतिने पांच वर्ष (कुल १०१ वर्ष) ब्रह्मचर्य पालन कराकर इन्द्रको आत्माका उपदेश किया, इस बातका तात्पर्य यह कि जो अपने आनन्दका स्थान है, जो होना हम चाहते हैं वह आत्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) इन तीनो अवस्थाओमे रहती हुई प्रतीत होती है, किन्तु ऐसा होते हुए भी वह इन तीनो अवस्थाओसे दूर है।

---

[३२]

जीवात्मा और परमात्मा (१)

विचारचन्द्र—गुरुजी, जिस अद्भुत आत्माके विषयमें कल आपने कहा था उसे किसने उत्पन्न किया होगा ? और वह किस वस्तुमेसे उत्पन्न हुई होगी।

गुरुजी—हिन्दू-धर्ममें आत्माको उत्पन्न हुआ नहीं मानते। वह अनादि है, उसका अमुक दिनसे आरम्भ नहीं होता।

विचारचन्द्र—गुरुजी, फिर हम सब क्यों ईश्वरके बालक कहलाये जाते हैं?

गुरुजी—इसका अर्थ यह है कि जैसे अग्निमेंसे चिनगारियां निकलती हैं वैसे ही हम ईश्वरमेंसे निकलते हैं। किन्तु चिनगारियां होनेसे कोई नया पदार्थ तो उत्पन्न होता नही, वल्कि वे तो अग्निके बड़े भागोमेंसे अलग होकर छोटे दिखाई देते हैं और वे स्फुलिङ्ग कहे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा तो एक ही वस्तु हैं।

विचारचन्द्र—लेकिन महाराज, जैसे अग्निमेंसे स्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे हम परमात्मामेंसे निकले हुए हैं, यह दृष्टान्त क्या बिल्कुल ठीक है?

गुरुजी—हां, लेकिन इस दृष्टान्तका यह अर्थ है कि परमात्माकी शक्ति जिसे प्रकृति कहते हैं और जो हमारे आसपास फैली हुई है, उससे हमारी देह बनी है और उस देहके कारण हम ये जीव बने हुए हैं। पर जैसे स्फुलिङ्ग अग्निके बाहर निकलते हैं वैसे हम कुछ परमात्माके बाहर निकलते नही—परमात्माके बाहर भला क्या हो सकता है? परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वरूप है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, ठीक। तो इसीकारण प्रकृति माता है, यह ठीक है न?

गुरुजी—हां, लेकिन परमात्मा और परमात्माकी शक्ति, ये

दो जुदी वस्तुएं नहीं। जैसे तेज और तेजकी शक्ति, जैसे दिया और उसकी प्रकाश करनेवाली शक्ति, ये दो जुदी नहीं हैं। जो परमात्मा है वही उसकी शक्ति है, और इसकारण परमात्माको पिता और माता दोनों कहा जा सकता है। इसके अलावा परमात्माके लिये एक दूसरी उपमा दी जाती है। क्या तुम उसे जानते हो?

हरिलाल—हां, राजाकी।

गुरुजी—ठीक, अब इसका कारण कहो।

हरिलाल—राजाकी भांति परमेश्वर भी हमारे लिये महात्माओंद्वारा न्याय नीतिके और इस सृष्टिके नियम बांधता है, बुरे मार्गसे जाते हुए रोकता है और अच्छे मार्गसे हमे उन्नत करता है। हम दोष करें तो वह शिक्षा करता है, और अच्छे ढंगसे चलें तो प्रसन्न होकर पुरस्कार भी देता है। इसलिये शुभ कर्म और भक्ति दोनोकी आवश्यकता है। गीतामे भी लिखा है कि भक्तको मैं बुद्धियोग देता हूं।

यथाश्लोकः—

ददामि त बुद्धियोगं येन मामुपयान्तिते।

गीता अ० १०श्लो० १०॥

गुरुजी—ठीक, अब इसके साथ इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि राजा तो कठोर न्यायकी मूर्त्ति है, और ये माता-पिता तो वात्सल्य (माता-पिताका पुत्र-प्रेम) की मूर्त्ति है। इसकारण जब यह दूसरा भाव विशेष रूपसे बतलाना हो तब

हम ईश्वरको माता-पिताकी उपमा देते है। क्या कोई तीसरी उपमा दी जाती हुई तुम जानते हो ?

लड़कोंने और कोई उपमा सुनी नही थी, इसकारण वे चुप रहे।

गुरुजी—जीव और ईश्वरको कितनी ही वार सखा—मित्रकी उपमा दी जाती है। राजाकी अपेक्षा माता-पिताकी उपमा कोमलता दरसाती है, किन्तु उसमे भी एक कमी है। माता पिताके साथ हम आदरपूर्वक व्यवहार करते हैं, दुःखके समय उनका सहारा लेते हैं, किन्तु हृदय खोलकर पूरी पूरी छूटसे विना संकोचके, दुःख सुखकी वात करना तो मित्रके ही साथ वन सकता है, इसकारण परमात्माको गीता सखा अर्थात् मित्र कहा गया है। वेदका कथन है कि इस संसाररूप वृक्षपर दो मिले हुए सखारूप पक्षी वैठे हैं, उनमेसे एक इस वृक्षके मीठे फल खानेकी कामना करता है और खाता है और दूसरा इन फलोको देखता रहता है, पर खाता नही। खानेवाला पक्षी तो जीव है और केवल देखनेवाला परमात्मा है। हमारे हृदयमें भी हमारा और परमात्माका इकट्ठा वास है, किन्तु हम इस संसारके भोगोमे फँस रहे हैं, और परमात्मा साथ रहता हुआ देखता और मित्रकी तरह हमे पापोसे वचनेको चितावना भी देता रहता है। इस वातका अनुभव विचार करनेपर हमारे अन्तःकरणमे होता रहता है।

अव मैं एक और जाननेयोग्य वात कहता हूं। इन दो सखाओंके नाम अपने इतिहास-पुराणोमे नर (जीव) और

नारायण (परमात्मा) बतलाये गये हैं, और इन नर और नारायणके अवतार अर्जुन और कृष्ण थे। दो मित्र हैं, उनमें परमात्मा तो इस संसारमे जीवात्माको उचित मार्गपर चलाता है, अतएव कृष्ण इस संसाररूप रणक्षेत्रमे अर्जुनके सारथी बने।

कृष्ण ऐसे योगिराजको व्यासजीने अर्जुनका सारथी क्यो बनाया, इसका सूक्ष्म अभिप्राय आज लड़कोंने समझा और समझकर सब बहुत आनन्दित हुए।

---

[३३]

जीवात्मा और परमात्मा (२)

पहले दिनके पाठपर विचार कर दूसरा पाठ आरम्भ करना यह धर्म-रक्षाका प्रतिदिनका रिवाज था।

गुरुजी—बालको, गये कल तुमने जीवात्मा और परमात्मा-सम्बन्धी कितने दृष्टान्त समझे ?

बालक—तीन।

गुरुजी—वे क्या है ?

रमाशंकर—एक राजा-प्रजाका, दूसरा मा-बाप और बच्चोंका, और तीसरा दो मित्रोंका।

गुरुजी—इनमें क्या इस पिछले दृष्टान्तमे कोई कमी मालूम हुई ?

रमाशंकर—हां, हमारा और परमात्माका सम्बन्ध अकेला

मित्र ऐसा नही। मित्र तो बराबरके होते हैं। क्या हम और परमात्मा कुछ बराबर हो सकते हैं? मित्रके भावके साथ राजा-प्रजाके और मा, बाप,बच्चोके भाव भी होने आवश्यक हैं।

गुरुजी—ठीक। किन्तु यह भी समझना चाहिये कि हमारा और परमात्माका सम्बन्ध किसी भी एक दृष्टान्तसे पूरा पूरा समझाया नही जा सकता। अच्छा, तुमने जो कहा था उसके अलावा तुम्हें मित्रके दृष्टान्तमे और कोई कमी समझमे आती है?

रमाशंकर—नहीं गुरुजी।

गुरुजी—तो सुनो। मित्रकी देह एक दूसरेसे स्वतन्त्र है, किन्तु जीवात्माकी देह तो परमात्माकी देहमेसे—हमारे आस-पासकी इस विस्तीर्ण प्रकृतिमेंसे—ही उत्पन्न हुई है,बल्कि उसका ही भाग है। इसकारण मित्रका दृष्टान्त भी पूर्णरीतिसे लागू नही होता। फिर कितने ही शास्त्रकारोके अनुसार इसमे एक और कमी है। मित्रके दृष्टान्तमे यह है और यह दूसरा है, इस प्रकार दो गिने जा सकते हैं,पर परमात्मा तो वही है जो हमारी सबकी आत्मामे है। चैतन्यरूपसे हम सब एक ही हैं। यह पिछला भाग लड़कोकी समझमे नही आ सका, यह बात गुरुजीने लड़कोकी आकृतिसे जान ली।

गुरुजी—बालको, मुझे मालूम होता है कि तुम पिछले भागको नही समझे। अच्छा, अभी इसे रहने दो। (सब समुद्रके पास खड़े थे। समुद्र धीरे धीरे बढता आता था और समुद्रकी लहरे एकके बाद दूसरी बढती ही जाती थी)।

गुरुजी—देखो, ये लहरें कैसी उछल रही है!

कान्तिलाल—हां, गुरुजी, बड़ा सुन्दर दृश्य है! देखो, यह लहर दूसरी लहरकी अपेक्षा कितनी बढ़ी आ रही है!

गुरुजी—आओ, लहरें गिनें, देखें पांच मिनिटमे कितनी आती हैं?

कान्तिलाल—(गिनकर) पन्द्रह। गुरुजी, अब हम चलें; क्योंकि समुद्र बहुत बढ़ता आता है।

गुरुजी—समुद्र बढ़ता आता है वा लहरें?

कान्तिलाल—क्या लहरें समुद्र नहीं है? क्या लहरें कुछ समुद्रसे जुदी है?

गुरुजी—जो तुमने पन्द्रह गिने, वे क्या लहरें थीं वा समुद्र?

कान्तिलाल—लहरें। लेकिन समुद्ररूपसे तो सब एक ही हैं न?

गुरुजी—ठीक, तो अब समुद्रके स्थानमें परमात्माको समझो, और तरङ्गोंकी जगह जीवको समझो। तरङ्गें एक दूसरेसे जुदी हैं तो भी समुद्ररूपसे सब एक हैं। उसी प्रकारसे जीव एक दूसरेसे जुदे है तथापि परमात्मरूपसे सब एक हैं। फिर तरङ्ग तो समुद्र ही है, तरङ्ग समुद्रसे जुदी नहीं, इसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा है, जीवात्मा परमात्मासे जुदी नहीं।

इस दृष्टान्तसे जो बात पहले लड़कोंकी समझमे नहीं आयी थी, वह सहजहीमें उनकी समझमे आ गई। जहां यह विषय कठिन लगा वहां 'रहने दो' कहकर गुरुजीने सबको दूसरी बातमें लगा दिया था और अब उस बातमेंसे ही छोड़े हुए विषयको समझा दिया। लड़के इस बातसे बहुत चकित हुए।

शास्त्रमें दृष्टान्त किस लिये दिये जाते हैं, इसका भी उन्हें परिचय मिला, अर्थात् दृष्टान्तसे विषय तुरन्त समझमें आता है।

अब धीरे धीरे पानी उतरा। रेतीमें जहां पहले दिन खेलते खेलते लड़कोंने छोटे छोटे गड्ढे खोदे थे, उनमें पानी भर गया। सन्ध्या हुई, आकाशमें चन्द्रमा देख पड़ा। गुरुजीने बालकोंको खबोचियोंमे चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब दिखलाया और कहा :—

बालको, इस चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको देखो। इसी प्रकारसे जीवात्मा उस परमात्माका—हमारे शरीर और हृदयमे पड़नेवाला—प्रतिबिम्ब है, यह कितने ही शास्त्रकार कहते हैं।

---

[३८]
कर्म और पुनर्जन्म

धर्म-शिक्षणके वर्गके विद्यार्थी वनकी शोभा देखते देखते चले जाते हैं। रास्तेमे गुरुजीने कहा—"देखो, बालको, इस खेतमे अनाजका पाक कैसा अच्छा है!" सब लड़के गेहूंकी बालोंको देखने लगे और उनमे दूधभरे दानोको देख बड़े प्रसन्न हुए। उनमें एक शङ्कर नामके बालकने कहा—"गुरुजी, हमने जो पहला खेत देखा था उसमे तो दाने सूख गये थे, और कितनी ही बालें भी पूरी न हो पाई थी। इस खेतका मालिक भाग्यशाली प्रतीत होता है।"

पुरुषोत्तम—गुरुजी, शङ्करने जो कहा, क्या यह सच है? मेरा तो यह मत है कि यह उसकी मिहनत, बुद्धि और मनोयोग का ही फल है। उसने खेत अच्छी तरह जोता होगा, बीज भी

अच्छा पसन्द कर बोया होगा, और इसके बाद पानी देनेमे भी बहुत श्रम किया होगा, इन कारणोंसे ही उसके गेहूं अच्छे हुए।

गुरुजी—पुरुषोत्तमका कथन सत्य है। जैसा करेंगे वैसा पायेंगे। *जो जस बुवै सो तस फल चाखा*। गेहूं बोनेसे गेहूं मिलते हैं; और गेहूंमे बीज, खाद और पानीके अनुसार ही पाक होता है।

शङ्कर—लेकिन गुरुजी, खेत ही खराब हो तो विचारा किसान भी क्या करेगा ?

गुरुजी—बहुत कर सकता है। तुमने अमेरिकाके किसानोकी बात सुनी होगी। हजारों मील जङ्गलमे बसकर, खराब जमीनको अपनी मिहनतसे सुधारकर, अच्छी खाद डालकर वे अपने खेतोंसे बहुत पैदावार कर सकते हैं। लेकिन इसके साथ मेरा कथन इतना तो सच है कि जमीनपर भी पैदावारका बहुत आधार रहता है। उस किसानके पास यदि अच्छी जमीन होती तो अच्छी पैदावार हो सकती थी। मैं इन दोनो किसानोंके सच्चे हालात जानता हूं। वे दोनों भाई हैं। उनके बापने तो उन्हें एकसी मिल्कियत दी थी, लेकिन उनमेंसे एकने तो बहुतसा धन उड़ा दिया, और बचे हुए थोड़े धनसे उस बुरे खेतको मोल ले लिया। दूसरे भाईने तो यह अच्छा खेत ही लिया, लेकिन अब भी वह पहला भाई चाहे तो अमेरिकाके किसानकी भांति बहुत कुछ कर सकता है।

इस प्रकार बातचीत करते करते सब अपने रोजके मिलनेकी जगह बड़े बरगदकी छायामें आ पहुंचे।

गुरुजी—आज हमें यहाँ बहुत नही बैठना है। मैंने रास्तेमें

जो बातचीत तुमसे की थी उसमे ही मैंने तुम्हें आजका पाठ पढ़ा दिया। हिन्दूधर्मकी, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, तीनो शाखाओंके माने हुए एक बड़े सिद्धान्तके विषयमे वह पाठ था। वह सिद्धान्त कर्मका महानियम है—*जो जस बुवै सो तस फल चाखा—अवश्य मेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्।*

हमे इस जन्म और पूर्व-जन्मके किये हुए कर्मोका फल तो अवश्य भोगना पड़ेगा। लोग साधारणतया कर्म शब्दका भाग्यके अर्थमे प्रयोग करते हैं। 'कर्ममे लिखा है'—'भाग्यकी रेखाए मिट नहीं सकती' इत्यादि वाक्य हम अक्सर सुना करते हैं, किन्तु कर्म शब्दका अर्थ भाग्य नही, वल्कि किया हुआ काम है। भाग्यका सहारा लेकर आलसी और निरुद्यम होकर बैठ रहना हिन्दूधर्मकी दृष्टिसे अनुचित है, वल्कि कर्मका अभिप्राय ही यह है कि मनुष्य अपने शुभ अशुभ कर्मोके लिये उत्तरदायी है, और 'जो जस बुवै सो तस फल चाखा' यह विचारकर उसे उद्योगी होना ही चाहिये। हमारा सुख दुःख हमारे इस जन्मके वा पूर्वजन्मके किये हुए कर्मो पर निर्भर है, यही हमारे धर्मका अटल सिद्धान्त है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भाग्य भी हमारे पूर्वके किये हुए कर्मोसे ही बनता है। जैसे बोया हुआ बीज समय आनेपर ही उगकर फूलता-फलता है, उसी प्रकार कर्म और भाग्यको समझो।

अब एक और बातपर भी विचार करो। हमसे इस जीवनमें अनेक भूले होती हैं, जिनका फल हमे भोगना पड़ता है। कितने ही अपने किये हुए कर्मोका फल तो हम यहीं भोग लेते

है, किन्तु हमें अपने सभी शुभ-अशुभ कर्मोंका बदला इस जीवनमे मिळनेसे रह जाता है। कभी कभी तो हमे पापी मनुष्य सुखी और धर्मात्मा दीन हीन देख पड़ते हैं, पर यदि इस जगत्का कोई न्याय-नियंता नियमानुसार चलानेवाला परमेश्वर है—और वह है ही यह हमारा अटल विश्वास है—तो जैसे दो और दो चार ही होते हैं और पाच नहीं होते, सूर्य पूर्वमे ही उदित होता है और पश्चिममे कदापि नही होता, वैसे ही अन्तमे—इस जन्ममे नहीं तो दूसरे जन्ममे—तो अवश्य अच्छे कामका फल अच्छा और खोटेका खोटा हुए विना रह नही सकता।

इस प्रकार हमारे जीवनका भूत और भविष्य कालसे घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो तो अबके किये हुए कर्म निष्फल होगे और पहले कुछ किये विना वर्तमान स्थितिमें उत्पन्न हुए हैं, यह न्यायी ईश्वरके राज्यमे कैसे सम्भव है ? इस रीतिसे कर्मके सिद्धान्तके साथ पूर्व-जन्म और पर-जन्मका—अर्थात् जीवनकी अनादि और अनन्त रेखाका—हम जन्मसे जन्मे नही और मृत्युसे मरते नहीं, इस महासत्यका सिद्धान्त जुड़ा हुआ है। ये दोनो सिद्धान्त ईश्वरकी न्यायपरायणताके आधार-पर रचे गये हैं।

---

[३५]

स्वर्ग और नरक

लड़के अगले दिनके उपदेशपर घर जाकर विचार किया करते थे और उसमें जो बात पूछनेयोग्य होती थी उसे दूसरे

दिन वे पूछा करते थे। लड़कोंकी विचारशक्ति बढ़ानेके लिये सामान्य रीतिसे इस शैलीका अनुसरण किया जाता था।

गुरुजी—किसीको कुछ पूछना है ?

विचारचन्द्र—महाराज, आपने यह कहा था कि इस जीवनमें समस्त कर्मोके फल नहीं भोगे जाते, इसकारण उनके भोगनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। लेकिन पुनर्जन्मके बदले स्वर्ग-नरकके मान लेनेसे काम चल सकता है।

गुरुजी—हिन्दूधर्म स्वर्ग नरक तो मानता ही है, लेकिन उसके साथ पुनर्जन्म भी मानता है। इन दोनोंको माननेका कारण यह है कि हम जो भोग वर्तमान समयमे भोगते हैं वे कुछ एकदम विना कारण नहीं आ पड़े. जगत्में जैसे हर एक वस्तुका कारण होता है वैसे ही इसका भी कारण होना चाहिये, और इसलिये पहले हमने किसी स्थलमे ऐसे कर्म किये होंगे कि जिनका परिणाम हमारा वर्तमान जीवन है, लेकिन स्वर्ग और नरक तो भोगभूमि है, कर्मभूमि नहीं, अर्थात् वहा तो कर्मके फल भोगे जाते हैं, कर्म किये नही जाते।

हरिलाल—गुरुजी, यह कैसे ?

गुरुजी—कारण यह कि हमारी व्याख्याके अनुसार स्वर्ग और नरक अच्छे और बुरे कर्मोके फल भोगनेके स्थान हैं। वहा भी यदि दूसरे कर्म किये जायं तो वे पूर्वजन्म और परजन्मके कारण हो जायंगे। इसलिये हमारी हालकी जिन्दगीके सुख-दुःखके कारणरूप जो कर्म होने चाहिये उनका स्थान स्वर्ग-नरक नहीं, बल्कि पूर्वजन्म ही माना जाता है।

विचारचन्द्र—तो फिर स्वर्ग नरककी जरूरत ही क्या रही ?

गुरुजी—सुनो। हमारे जो भले-बुरे कर्म देख पड़ते हैं वे वास्तवमें ऐसे बड़े होते हैं कि उनका बदला इस हमारी छोटी-सी दुनियामे नहीं मिल सकता। कल्पना करो कि इस संसारमे एक दुष्ट पुरुषद्वारा एक साधु पुरुषकी निष्ठुरतासे की हुई हत्याके सम्बन्धमे बहुतसे बहुत क्या दण्ड हो सकता है ? इस प्रकारके कामके लिये मृत्युका दण्ड भी पर्याप्त नहीं है।

विचारचन्द्र—किन्तु यदि यह मान ले कि आनेवाले जन्ममे वह साधु पुरुष उस दुष्टसे वैसा ही व्यवहार करे तो नरककी कल्पना करना तो व्यर्थ ही होगा।

गुरुजी—तो साधु और दुष्टके बीचमे बदलेके बाद निबटारा तो हो सकता है, किन्तु परमेश्वरके सामने तो अपराध बना ही रहता है न ? पर दयालु ईश्वर उस अपराधको सदा अपनी दृष्टिमे नहीं रखता, नरककी सजाका भोग कराकर वह उसे शुद्ध करता है। फिर यदि वह साधु क्षमाशील और उदार मनका हो और जैसा उसके साथ एक जन्ममे किया वैसा वह स्वयं प्रति दूसरे जन्ममे * न करे तो भी इसके कारण किया हुआ पाप क्या मिट सकता है ? वह तो जब उसकी सजा नरकमें भोग लेगा तभी मिट सकता है। इसलिये पुनर्जन्मके साथ स्वर्ग-नरक मानना आवश्यक है।

भले-बुरे कर्मोंके अनुसार स्वर्ग-नरक भोगने ही पड़ते है, इस सम्बन्धमे हिन्दू-धर्मका विश्वास इतना दृढ़ है कि युधिष्ठिर ऐसे

* इस पुस्तकमे 'हरिश्चन्द्रका यज्ञ' शीर्षक पाठ देखो।

धर्मराजाके अवतार माने हुए महापुरुषको भी इस नियमसे मुक्त नहीं माना गया ।

प्रेमशङ्कर—गुरुजी, स्वर्ग और नरक कहां होगे ?

गुरुजी -ये स्वर्ग और नरक हमारी भूमिके सदृश कोई और भूमि नहीं । ये तो जीवकी वर्तमानसे कुछ जुदी ही प्रकारकी अवस्थायें हैं, जिन अवस्थाओमे जीवको केवल सुख और दुःख ही भोगने होते हैं । इसलिये हिन्दूशास्त्रकार कितनी ही वार यह कहते हैं कि स्वर्ग और नरक ये सुख दु खकी अवस्थाये हैं और वे हमारे भीतर ही हैं । जैसे हम स्वप्नमे देखी हुई दुनियाको न इस पृथ्वीके ऊपर अथवा उसके नीचे ही कह सकते हैं वैसे ही ये स्वर्ग और नरक ऊचे हैं वा नीचे, यह नही कह सकते । परन्तु हमारे मनका कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो वस्तु अच्छी है उसे हम हमेशा ऊचा मानते हैं, और जो चीज बुरी है उसे हम नीचा मानते हैं । इसलिये स्वर्ग ऊपर और नरक नीचे माना गया है ।

सुशील—गुरुजी, स्वग एक है वा अनेक ?

गुरुजी—सुख एक है, अतएव सुखका धाम स्वर्ग भी एक ही है । लेकिन परमात्माके जुदे जुदे रूपके कारण जैसे देवता अनेक हैं वैसे ही इन देवताओके धाम भी अनेक है । सृष्टिलीला सर्वत्र एक है, तथापि पहाड़पर हवाके झकोरोका एक तरहका सुख, समुद्रके किनारे दूसरी तरहका सुख, बगीचेमे तीसरी तरहका सुख मिलता है । वे जुदे जुदे लोक अग्निलोक, वायु-लोक, चन्द्रलोक इत्यादि कहे जाते है, और वे सब मिलकर

इनके अनुसार परलोकके भी दो मार्ग हैं जो क्रमसे *धूममार्ग* (धुएंका मार्ग) और *अर्चिमार्ग* (प्रकाशका मार्ग) कहे जाते है। सकाम शुभ कर्मोंमे वासनारूपी धुएंका सम्बन्ध है, इसकारण वह धूममार्ग कहलाता है, और ज्ञान तो प्रकाशरूप है, इसलिये उसका मार्ग अर्चिमार्ग कहलाता है। वह ज्ञान निष्काम कर्मोंसे अर्थात् आसक्तिरहित होकर कर्म करनेसे प्राप्त होता है। धूममार्गद्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है, लेकिन स्वर्गके सुखका अन्त है, क्योंकि जितना पुण्य उतना ही स्वर्गका सुख होता है, और उस सुखके भोगनेके पश्चात् जीवको फिर पृथ्वीपर लौटकर आना पड़ता है। अतएव जो सकाम शुभ कर्म यज्ञ-यागादिक मात्र ही किया करते हैं, वे पृथ्वीसे स्वर्ग और स्वर्गसे पृथ्वीपर आया जाया करते हैं। यहांपर यज्ञका अर्थ अनेक प्रकारके शुभ कर्मोंसे है। जैसा भगवान्‌ने कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वनेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥
श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४ श्लोक २८।३२

अर्थः—कोई धनदानरूप यज्ञ करता है, कोई तपरूप यज्ञ करता है, कोई योगरूप यज्ञ करता है, कोई कठोर व्रत कर बड़े परिश्रमसे वेदाध्ययनरूप अथवा ज्ञानार्जनरूप यज्ञ करता है। ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्माने वेदमुखसे कहे हैं। इन

सबका मूल कर्म है यह तुम जान लो, तब बन्धनसे मुक्त हो जाओगे। यह निरन्तर आवागमनकी स्थिति सुख दुःखसे मिश्रित है, किन्तु यह स्थिति चाहे अखण्ड सुखसे परिपूर्ण क्यो न हो तथापि विचारवान् पुरुषोको यह आवागमन अच्छा नही लगता। उन्हें तो इस दुनिया वा स्वर्गकी अपेक्षा ईश्वरका समागम विशेष आनन्दप्रद होता है, और इसकारण वे पृथ्वी और स्वर्गकी फेरीसे, और जन्म-पुनर्जन्मके चक्रसे, जिसे 'संसार', अर्थात् जो चलता ही रहता है, कहते हैं, उसमेंसे छूटनेकी इच्छा करते है। इस संसारसे छूटना ही *मुक्ति* है! मुक्ति विविध प्रकारकी है—एक '*सालोक्य*' अर्थात् प्रभुके लोकमे, वैकुण्ठ वा कैलाशमें जाकर बसना, दूसरी '*सामीप्य*' अर्थात् प्रभुके समीप ही रहना, तीसरी *सारूप्य* अर्थात् ईश्वरके समरूप होना और चौथी *सायज्य* अर्थात् ईश्वरसे मिल जाना, ये ही चार भेद हैं। कितने एक द्वैतवादियोके सिद्धान्तसे यह चार प्रकारकी मुक्ति हैं। इनके अतिरिक्त अद्वैतवादियोके मतानुसार एक *कैवल्य मुक्ति* है, उसमे आत्मा अपने केवल शुद्ध-रूपका अनुभव करती है। इस कैवल्य मुक्तिमे आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव मरणके पश्चात् तथा जीवित दशामे रहते हुए भी हो सकता है।

यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापी और निराकार है, किन्तु अपनी अनन्त मायाको धारण करनेके कारण उसमें साकारकी कल्पना भी घट सकती है। इसलिये उसके साकार स्वरूपकी कल्पना करते हुए भक्तिमार्गी द्वैतवादियोने चार प्रकारकी अलङ्कार-रूपमे मुक्तिकी कल्पना की है। मुक्तिकी अवस्था तो मुक्त जीवो-

द्वारा अनुभवसे ही जानी जाती है, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि मुक्तिमें अनन्त और नित्य सुख प्राप्त होता है।

---

[३७]

मुक्तिके साधन

गुरुजी—सब विद्याओंमें शिरोमणि अध्यात्म विद्या कही गयी है। इसलिये यहांके महात्माओंका सदासे इस विद्याद्वारा मुक्ति प्राप्त करनेका प्रधान लक्ष्य रहा है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, कल आपने जो उत्तमसे उत्तम प्रकारकी मुक्ति बतलाई, वह कैसे मिल सकती है?

गुरुजी—वह गांठ छोड़नेपर मिलेगी।

विचारचन्द्र—लेकिन वह कैसे छूटेगी?

गुरुजी—गांठ पड़ी हो तो वह सुलझानेसे ही खुल सकती है।

विचारचन्द्र—तो, महराज, इसका अर्थ यह है कि गाठ किस प्रकार पडी है, यह देखना चाहिये।

गुरुजी—बेशक। इसे देखनेसे मालूम होता है कि जो कर्म हम करते हैं उनसे हमारी वासनायें बनती हैं, और वासनासे पुनजन्म होता है और इस रीतिसे कम, वासना और पुनर्जन्म चलना ही रहता है।

विचारचन्द्र—तो महाराज, कर्म न करने चाहिये।

गुरुजी—करने ही चाहिये। करने चाहिये, यह कहनेकी

जरूरत ही नहीं। कृष्ण भगवान गीतामें कहते हैं कि कोई भी मनुष्य एक क्षणभर भी कर्म किये बिना रहता नहीं।

विचारचन्द्र—तो महाराज, यह तो बड़ी कठिनाई आ पड़ी, यदि कर्म किये जायं तो वे हमे संसारमे डुबा रखते हैं, और न किये जायँ तो यह सम्भव नहीं। तो फिर क्या करें ?

गुरुजी—ऐसा कर्म करना कि जिससे वह कर्म कर्म ही न रहे। (*लड़के इसे न समझकर घबड़ाये*) घबड़ाओ मत। मैं अपने कहनेका अर्थ समझाता हू। जैसे बिच्छूका डङ्क निकाल लेनेसे वह बिच्छू बिच्छू नही रहता, उसी प्रकार कर्मका जो भाग है, जिसके कारण यह वासना उत्पन्न करता है,उस भागको निकाल डालें तो काफी होगा।

विचारचन्द्र—वह कौनसा भाग है ?

गुरुजी—सकाम बुद्धि—स्वार्थ-बुद्धि—जिसके कारण अहङ्कार उत्पन्न होता है। संसारमें जो जो कर्म करने हो वे राग-द्वेषसे न करने चाहिये, किन्तु प्रभुकी आज्ञा है, इस भावना वा बुद्धिसे ही वे कर्म करने चाहिये, और इस रीतिसे निष्काम कर्म करनेकी वासनाका अङ्कुर नहीं जमता। पर यह बतलाओ कि ईश्वरकी आज्ञापर चलनेकी इच्छा कब होगी ?

विचारचन्द्र—ईश्वरपर जब हमें पूर्ण श्रद्धा होगी।

गुरुजी—तो इस बातसे यह समझो कि मेरे कहे हुए निष्काम (स्वार्थ-इच्छा बिना) शुभ और न्यायबुद्धिसे कर्म करनेके लिये भक्तिकी आवश्यकता है। अब यह बतलाओ कि भक्ति हमारे मनमें कहां उत्पन्न होती है ?

विचारचन्द्र—जब हम यह जान जायें कि ईश्वरमे ऐसे गुण है, जिनसे भक्ति उत्पन्न होती है।

गुरुजी—ठीक। पर इसके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञानका परमात्माके मार्गमे उपयोग किया जाता है, और वह योग कहा जाता है।

कर्मको परमात्माके मार्गमे लगाना ही "कर्मयोग" है,भक्तिको लगाना "भक्तियोग" और ज्ञानको लगाना "ज्ञानयोग" है। इस प्रकार इन उत्तम प्रकारके कर्म, भक्ति और ज्ञानको गीतामे ये तीन नाम दिये गये हैं। तीनो हमारे धार्मिक जीवनमे किस प्रकार उपयोगी होते हैं, इसे मैं कुछ विस्तारपूर्वक समझाता हूं।

(१) *कर्म*—यह प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं, और अन्तःकरण शुद्ध होता है। लेकिन कर्म केवल धार्मिक क्रियामात्र नहीं, जैसे यज्ञ, दान, तप, व्रत, बल्कि न्यायसंगत वर्णाश्रमके सभी धर्मोका अनुष्ठान करना चाहिये।

(२) *भक्ति*—कर्मके साथ भक्ति चाहिये। कितनी ही दफे काम करते करते अर्थात् संसारका अनुभव करते करते ईश्वरका ज्ञान होता है और भक्ति उत्पन्न होती है, पर वह भक्ति हमेशा शुद्ध ही नही होती। कितनी ही बार हम ईश्वरको "हे प्रभु! हमारे दुःख दूर करो, हमारे बाल-बच्चोको सुखी रखो, हमे धन-धान्यकी समृद्धि दो।" इत्यादि प्रार्थना करते हैं। पर सच तो यह है कि इस तरहकी भक्ति स्वार्थवृत्तिकी है, तथापि ईश्वरके नामकी और उसकी प्रार्थनाकी महिमा ऐसी

है कि इसके द्वारा भी हम धीरे धीरे शुद्ध बन जाते हैं और सकाम भक्तिमेंसे निष्काम भक्तिमें आ जाते हैं।

ज्ञान—जब हम निष्काम भक्तिमे आ जाते है तब हमे ईश्वरके सिवाय किसी वस्तुमे भी सुख प्रतीत नहीं होता, और इस-कारण ईश्वरके जाननेकी, उसके दर्शन करनेकी हमारी तीव्र इच्छा होती है। किन्तु इस इच्छाके उत्पन्न करनेके लिये हमें पहले इतनी सामग्री इकट्ठी कर रखनी चाहियेः—

एक तो **विवेक**, अर्थात् यह संसार अनित्य है, ईश्वर नित्य है, यह देह अनित्य है, आत्मा नित्य है, इत्यादि ज्ञान चाहिये। दूसरा **वैराग्य**, अर्थात् इस लोकके तो क्या, स्वर्गके सुखकी मुझे इच्छा नही, ऐसी प्रबल मनोवृत्ति होनी चाहिये। तीसरा **शम**, (मन शान्त रखना) **दम**, (इन्द्रियोंको वशमे रखना) इत्यादि मानसिक बल और शान्तिके गुण चाहिये। चौथा **मुमुक्षुत्व** अर्थात् इस संसारसे छूटनेकी इच्छा होनी चाहिये। इसमेंसे हर एक गुणकी परम आवश्यकता है, तथापि **मुमुक्षुत्व** सबसे बड़ा गुण है; क्योंकि यदि यह होगा तो पूर्वोक्त सभीको खींच लायेगा।

---

[३८]

षट् दर्शन

ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अधिकारी भेदसे उत्तरोत्तर सीढ़ी।

आनन्द—गुरुजी, आपने कल कहा था कि कितने ही शास्त्र-कारोंका ऐसा मत है, और पहले जीवात्मा और परमात्माके

सम्बन्धमे बोलते हुए भी आपने इसी प्रकार अमुक मत कितने ही लोगोका है, यह कहा था। तो महाराज, हमारे शास्त्रोंमे सबका कथन एक ही न होगा?

गुरुजी—पुस्तक पढ़नेकी सामर्थ्य प्राप्त करनेके पहिले जैसे, वर्णमालाका ज्ञान प्राप्त कर लेना जरूरी है, इसी प्रकार भिन्न भिन्न रीतिसे मनुष्योंको समझानेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने षट्दर्शनोंकी रचना की है। जहातक हो सका, हिन्दूधर्मके इन तत्वोंके समझानेमे जो तत्व सबको मान्य थे अथवा होने ही चाहिये, उन्हें ही मैंने लिया है। लेकिन सभी शास्त्रकारोंका सभी विषयोंपर एकसा ही मत और कथन कैसे हो सकता है? हर एकके मस्तकमे जुदी जुदी मति होती है। ऐसी भिन्न भिन्न मतिके कुछ दृष्टान्त मैं तुम्हें दूंगा, जिनसे तुम यह भलीभांति समझ जाओगे कि जीव, ईश्वर और जगत्के विषयमे ज्ञान उपार्जन करनेमे हमारे पूर्वजोंने कैसा परिश्रम किया था।

वेदमे जो कहा है, उसे अनुभव करनेके लिये जुदे जुदे शास्त्रकारोंने दर्शन (अर्थात् देखनेके साधन) रचे जो षट्दर्शन कहलाते हैं। हर एक दर्शनका इतिहास इतना लम्बा-चौड़ा है कि उनके सिद्धान्तोंमे फेरफार होना स्वाभाविक है, और ऐसा हुआ भी है। तो भी साधारण रीतिसे आजकल अमुक सिद्धान्त दर्शनका है, यह माना जाता है। इसके अनुसार मैं तुम्हें उनके सिद्धान्त बतलाता हूं:—

(१) प्रथम *सांख्य-दर्शन*। इसके पहले आचार्य कपिलमुनि कहलाते हैं। इस दर्शनका सिद्धान्त यह है कि संसार

जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि ताप (दुःख) से भरपूर है, और ऐसा होनेका कारण यह है कि उसमे प्रकृति और पुरुष, जड़ और चैतन्य, ये दो तत्व परस्पर मिल गये हैं। पुरुष (जीव) प्रकृतिसे भिन्न है, तथापि अपने आपको प्रकृतिके साथ बांध लेनेसे वह अपने दुःखोंका स्वयं जन्मदाता बन गया है। यह प्रकृति सत्व, रज और तम, इन तीन गुणोंकी बनी हुई है, और वे क्रमसे सुख, दुःख और मोह (जड़ता) उत्पन्न करते हैं। इन गुणोसे छूटना ही मोक्ष (निर्वाण) है। पुरुष प्रकृतिसे जुदा है, यह जान लेनेसे छूटना सम्भव है। बस, यही प्रकृति पुरुषके मिलनेसे हो जगतरूप बना है, जैसे दूधमेसे दही बन जाता है। अतएव ईश्वरके माननेकी कोई आवश्यकता नही, यह कर्म और ज्ञानप्रधान दर्शन है। गौतम बुद्ध भी इसीके अनुयायी थे।

(२) *योग-दर्शन* । इसे पातञ्जलि मुनिने रचा है। सांख्य-दर्शनमे ईश्वर नही माना गया, वह इसमे माना गया है। सभी बातोंमे यह सांख्यके सिद्धान्तोको स्वीकार करता है, किन्तु प्रकृतिसे पुरुष कैसे छूट सकता है, इसकी रीति जो सांख्यमें नही बतलायी गयी, उसे यह दर्शन बतलाता है। इस दर्शनमे कितने ही उत्तम नीतिके गुण, प्राणायाम, ध्यान, समाधि इत्यादि साधन भलीभांति बतलाये गये है। सांख्यके साथ योगदर्शनका मतभेद केवल ईश्वरके विषयमें है। अतएव एक निरीश्वर सांख्य और दूसरा सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। इस दर्शनके ईश्वरमे एक बात ध्यानमे

रखनी चाहिये कि ईश्वर इस जगत्से तथा सभी जीवोंसे सर्वथा भिन्न है, वह परम विशुद्ध पुरुष है, इतनेहीसे वह ईश्वर कहा जाता है। उसके अनन्य ध्यानसे मोक्ष मिलता है। किन्तु चित्तकी वृत्तियोंको रोके बिना निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध." अर्थात् चित्तकी वृत्तियोको रोकनेके लिय ही इस दर्शनमे सुगम उपाय बताये गये हैं। प्राचीन समयमे योगसिद्धि होनेपर महात्मा लोग श्वास रोककर सहस्रो वर्षोतक इच्छा होनेपर एकासनपर बैठे रहते थे। इच्छानुसार प्राणत्याग करते थे। ऐसे अनेक दृष्टान्त हमारे शास्त्रोमे मिलते हैं। अब भी कई कई स्थानोमे योगी पाये जाते हैं, जिनमें अनेक प्रकारकी अद्भुत सामर्थ्य दिखाई पड़ती है। इस प्रकारकी सिद्धियां परमार्थकी दृष्टिसे गौण मानी गयी हैं। योगका मुख्य लक्ष्य तो मोक्षप्राप्ति ही है।

(३) वैशेषिक दर्शन — इसे महर्षि कणादने रचा है। इस दर्शनके अनुसार द्रव्य,गुण, कर्म आदि ६ पदार्थ हैं। उदाहरण—यह वृक्ष, उसका नीला रङ्ग, उसके हिलने-जुलनेकी क्रिया आदि। इनमेंसे प्रथम द्रव्य नौ प्रकारका है—पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इस जगत्को परमेश्वरने रचा है। जैसे एक चतुर कारीगर ईंट, पत्थर आदि चतुराईसे लगाकर सुन्दर महल बना डालता है, वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायुके परमाणु कणमेसे ईश्वर इस जगत्की रचना करता है। पर जैसे निर्माणकर्त्ता उन ईंट और महल दोनोसे जुदा है, वैसे ही जगत्का कर्त्ता ईश्वर भी इन परमाणुओसे तथा

जगत्से जुदा है, अर्थात् इस जगत्को उसने अपनेमेंसे ही नहीं निकाला किन्तु बाहर रहकर बाहरके पदार्थोंसे इसे रचा है। दूसरी बात यह है कि जीव और ईश्वर दोनों आत्मा हैं, लेकिन दोनों एक नहीं। ईश्वर जीवोंसे जुदा है और जीवोंके कर्मानुसार उन्हें सुख दुःखरूप फल देता है। इस दर्शनका खास उद्देश्य द्रव्योंके धर्म ('विशेष'—खास-गुण जिनके आधारपर वैशेषिक नाम पड़ा है) निश्चित करना है। इस प्रकार विशेष धर्मका निश्चय कर आत्मा इन जड़ द्रव्योंसे जुदा है, यह इस शास्त्रने सिद्ध कर बताया है। सांख्यने प्रकृति और पुरुषको बतलाया, दोनोंकी भिन्नता किस रीतिसे अनुभव करना उस रीतिका निरूपण योग-शास्त्रने किया, किन्तु जड़ और चैतन्य जुदे ही हैं, इसका विशेष निर्णय इस वैशेषिक दर्शनने किया।

(४) *न्याय*—इसे गौतम ऋषिने बनाया। इसमें सत्यके जाननेके साधन—जिन्हें प्रमाण कहते हैं—निश्चित किये गये हैं। किस रीतिसे किया हुआ अनुमान ठीक हो सकता है, और उसमें कैसी भूलें किस रीतिसे पकड़ी जाती हैं, इत्यादि बातोंकी विवेचना न्यायशास्त्रमें है। वैशेषिक दर्शनमें आत्मा और अनात्माके धर्म जो पृथक् कर बतलाए गये हैं, उन्हें इस दर्शनने स्वीकार किया है, और उनके लिए कैसे अनुमान आदि प्रमाण हैं उनका भी निरूपण किया है। इसलिए जैसे सांख्य और योग एक जोड़ेके हैं, वैसे ही वैशेषिक और न्यायका दूसरा जोड़ा है। न्यायशास्त्रमें प्रत्येक बात तर्कोंसहित प्रमाणोंसे सिद्ध

की गई है। इससे तुम जान सकते हो कि हमारे धर्मशास्त्रोंने अन्धश्रद्धाको स्थान नहीं दिया है।

(५) *मीमांसा*—इसके रचयिता जैमिनी हैं। इसमें वेदके यज्ञभागके वाक्योंका—और उनके आधारपर वाक्यमात्रका—अर्थ करनेकी रीति वतलायी गई है।

वेदान्त—इसके रचयिता वादरायण व्यासमुनि थे। वेदका अन्त वा सिद्धान्त उपनिषदोंमें आता है, उनके उपदेशोंपर इस दर्शनमें विचार किया गया है, इसकारण यह वेदान्त कहा जाता है। उपनिषदोंमें ब्रह्म वा परमात्माके विषयमें विचार है। उसके सम्बन्धमे ही यह दर्शन है, अतएव यह ब्रह्ममीमांसाके नामसे भी ख्यात है। पहले कर्म और फिर ज्ञान, पहले कर्मका विचार और फिर ब्रह्मका विचार होना चाहिये, इसकारण, जैमिनीकी मीमांसा पूर्वमीमांसा और वेदान्त उत्तरमीमांसाके नामसे पुकारी जाती है, अतएव ये दोनो मीमांसीय षड्दर्शनोंमे एक जोड़ेकी हैं, किन्तु यदि इन दोनो दर्शनोंके सिद्धान्तोंका आपसमे मिलान करे तो इनमे वहुत मतभेद मालूम होता है। एक ईश्वर-भक्तिकी आवश्यकता नहीं मानता, दूसरा सव कुछ ईश्वररूप ही मानता है, एक कर्मको ही मोक्ष-साधन मानता है, दूसरा ज्ञानको मानता है और कर्मको ज्ञानके साथ रखता है और केवल कर्मपर ही निर्भर रहनेको अथवा उसे ज्ञानका विरोधी मानता है। इस दर्शनमे मुख्यतया परमात्मा और जीवात्मा,उनका परस्पर सम्बन्ध, परमात्माको प्राप्त करनेके साधन, मोक्षकी स्थिति, इत्यादि अनेक महत्वके विषयोंपर

विचार किया गया है। इसके सिद्धान्तोंपर हिन्दूधर्म अवलम्बित है, और इसकारण हमारे शिक्षणमे वेदान्तके सिद्धान्तोंका अधिकांशमे उपयोग किया गया है।

सब दर्शनोंमे वेदान्त दर्शनका ऐसा महत्व है कि अनेक आचार्योंने इसपर "भाष्य" कहलानेवाली, गम्भीर अर्थसे भरपूर, टीकायें लिखी हैं। ऐसे भाष्यकारोंमे मुख्य तीन हैं, शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, और वल्लभाचार्य। इनके सिद्धान्त मैं तुम्हें संक्षेपसे कह जाता हूं।

शंकराचार्यके सिद्धान्तके अनुसार—

(१) कर्म और भक्तिसे चित्त शुद्ध होता है, किन्तु इस संसारमेसे मुक्ति पानेका साधन तो ज्ञान ही है।

(२) "ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव तो वास्तवमें ब्रह्म ही है"—इस प्रकारका अनुभव ही ज्ञान है।

(३) इस ज्ञानके प्राप्त करनेके लिये संन्यास आवश्यक है। जिस घड़ी सच्चा वैराग्य हो, तभी यह संन्यास लिया जा सकता है, गृहस्थाश्रम करना भी अनावश्यक नही।

रामानुजाचार्यके सिद्धान्तके अनुआर—

(१) परमात्मा निर्गुण नहीं, किन्तु समस्त शुभ गुणोसे भरपूर है। सृष्टिके जड़ चेतन पदार्थ और चेतन जीव उसके शरीरके अङ्ग हैं। यह शरीर ही परमात्माका विशेषण, और परमात्मा इस शरीररूपी विशेषणसे विशिष्ट है, इस शरीरविशिष्ट परमात्माके सिवाय और कोई वस्तु नही। इसकारण इस सिद्धान्तका नाम 'विशिष्टाद्वैत' है।

(२) कर्म और आत्म-ज्ञान, ये दोनों मिलकर भक्ति उत्पन्न करते हैं, और भक्ति ही परमात्मातक पहुँचनेका साधन है, भक्ति ही ज्ञान है; किन्तु इसके साथ कर्म हमेशा करते रहना चाहिये, जैसी कि एक महात्माकी सन्तवाणी है :—हाथ काम मुख राम हृदय साची प्रीति,क्या योगी क्या गृहस्थी उत्तम यही रीति।

वल्लभाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार—

(१) जैसे अग्निमेसे चिनगारियां निकलती हैं अथवा जैसे मकड़ियां अपनेहीमेसे जाला निकालती हैं, वैसे ही ब्रह्ममेंसे यह जड़ सृष्टि और जीव निकले हैं। ये जीव और जड़ सृष्टि शुद्ध ब्रह्म ही है, और शुद्ध ब्रह्मके सिवाय और कुछ वस्तु नहीं, इसलिये यह सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है।

(२) ज्ञान और वैराग्य ही भक्तिके साधन हैं, परमात्माके पानेके लिये अन्तमें भक्ति ही चाहिये। भक्ति विविध प्रकारकी है। इसमे प्रेमलक्षणा भक्ति उत्तम है। शास्त्रके नियम पालन कर ईश्वरका भजन करना 'मर्यादामार्ग' है, और प्रभुके ही आश्रित रहना और उसे अपने आपको सौंप देना—जिससे वह हमारी भक्तिकी पुष्टि करता रहे—यह 'पुष्टि-मार्ग' है।

इस प्रकारके हमारे शास्त्रकार और आचार्योंके विविध मत हैं। इन विविध मतोंसे हमे घबड़ाना न चाहिये। सभी हमे कुछ न कुछ सिखाते है और इन मतोंमेंसे ही हमे यह दृढ़ विश्वास होता है कि—निम्न उपायोसे उसी एक परमात्माके ज्ञानको समझानेके लिये भिन्न भिन्न मार्ग बताये गये हैं।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

जुदी जुदी रुचिके कारण मनुष्य सीधे, टेढे आदि जुदे जुदे मार्गोका अवलम्बन करते हैं—किन्तु उन सबके पहुंचनेका स्थान—हे प्रभु ! तुही है, जैसे जलके लिये समुद्र तद्वत् ।

इन षड् दर्शनोंने जिस प्रकार अनेक सूक्ष्म तर्कोंद्वारा आध्यात्मिक ज्ञान समझानेका प्रयत्न किया है,उसी प्रकार पीछेसे बने हुए तन्त्र-ग्रन्थोंने लोगोंको सकाम अथवा निष्काम बुद्धिकी भिन्न भिन्न रुचिके अनुसार अनेक प्रकारकी "प्रतीकोपासना"की विधि बनायी है। इस प्रतीकोपासनामें जप और ध्यानका भी समावेश किया गया है। तन्त्रोंकी शिक्षा बता रही है कि इस प्रकारकी प्रतीकोपासनासे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर वह अन्तमें ईश्वरके निराकार स्वरूपमें ध्यान लगानेके योग्य बन जाता है। इस प्रतीकोपासनाका नाम ही मूर्त्तिपूजा है।

यद्यपि तन्त्रोंका मुख्य प्रयोजन स्थूलरूपसे मूर्त्तिपूजा अथवा मन्त्रोंके जपद्वारा ईश्वरकी भक्तिमें मन लगवाना है, परन्तु पिछले समयमें पाखण्डी और स्वार्थी मनुष्योंने तन्त्रोंमें बहुतसे ऐसे प्रकरण भी घुसा दिये जो ज्ञान और भक्तिसे सर्वथा विपरीत हैं।

इस समय ऐसे बहुतसे पाखण्डी और धूर्त्त पुजारी और महन्त भी हैं जो अपने पापाचरण और स्वार्थपरायणताके कारण मन्दिरोंपर अनेक लाञ्छन लगवा रहे हैं। हम सबको

चाहिये कि धर्मकी रक्षामे ही सदा तत्पर रहें। मनु महाराज लिखते हैं कि:—

"धर्मो रक्षति रक्षितः"

———

[३६]

जैन तीर्थंकर।

चन्द्रशेखर—गुरुजी, आपने कल मनुष्योंके स्वाभाविक मतभेदके कितने ही दृष्टान्त दिये। वे सब आचार्य भिन्न भिन्न समयमे हुए, वे इकट्ठे बैठकर किस रीतिसे निर्णय कर सकते थे? लेकिन मेरे मनमे यह बात आती है कि यदि ऐसा हो सकता तो बहुत ही अच्छा होता। सबके लिये एक ही मार्गका निर्णय होता और आजकल जो झगड़े होते है, वे न होते।

गुरुजी—तुम्हारा कथन ठीक है। जैसे बने वैसे हमे एक दूसरेकी समानता देख एकता बढ़ानी चाहिये, इसमे ही भलाई है; किन्तु सबके लिये एक ही मार्ग होना अच्छा है, यह मानना उचित नहीं। अज्ञानका किला ऐसा विशाल और दुर्भेद्य है कि उसपर तो हजारो बहादुर सिपाही चारो ओरसे, जुदी जुदी दिशाओसे, हमला करे, तभी वह जीता जा सकता है। सिपाहियोकी एक सीधी-अखण्ड पंक्ति एक किलेके हमलेमे कृतकार्य्य नही हो सकती। दूसरा उदाहरण लीजिये। यदि सरकार यह हुकुम दे कि इस नर्मदा नदीके सैकड़ो मील लम्बे किनारेपर रहनेवाले सभी ग्रामवाले एक ही ठिकानेसे नदी पार उतरें, तब

तुम उस हुकुमकी बाबत क्या कहोगे ? इसी प्रकार यह समझना चाहिये कि इस संसाररूपी अज्ञानकी नदीके पार करनेके लिये ही महापुरुषोंने अनेक घाट बनाये हैं, अनेक छोटी बड़ी नावें चला करती हैं—इनका हम अपनी अनुकूलता और आवश्यकताके अनुसार लाभ उठावें, इसमें ही भला है। एक बात स्मरण रखना कि सबको सामनेके किनारेपर हो जाना है, कहांसे जाना और किस रीतिसे जाना, इसे हमें अपने स्थान और स्थिति आदि देखकर निश्चित करना चाहिये। आज मैं ऐसे ही एक बड़े घाट बनानेवाले और नदी पार करनेके छोटे बड़े अनेक साधनोंके आविष्कार करनेवालेके विषयमें तुम्हारे समक्ष वार्तालाप करूंगा। पहली दी हुई उपमाके अनुसार, आज मैं अज्ञानके किलेपर घोर आक्रमण करनेवाले एक महान् सेनापति और उसके शस्त्रके बारेमें कुछ बातचीत करना चाहता हूं। बालको! यह कहो कि तुम्हें हिन्दूधर्मकी व्याख्या तो याद है न ?

चन्द्रशेखर—हां महाराज, सिन्धु, गंगा, यमुनाके प्रदेशोंमें जो धर्म उत्पन्न होकर वहांसे फैला, वही हिन्दूधर्म है।

गुरुजी—ठीक। मुझे आशा है कि तुम्हें यह भी स्मरण होगा कि इस भूमिमें जैसे इन्द्र, वरुण आदि देवताओंकी स्तुति और उनके निमित्त यज्ञ होते थे, वैसे ही इन सब देवताओंमें विराजमान परमात्मा कैसा है और वह किस रीतिसे मिल सकता है, इसके विचार करनेमें बहुत स्त्री पुरुष संलग्न थे। इनमें कितने ही जनक राजा जैसे राजकाज करते थे और कितने ही शुकदेवजी

जैसे परमहंस-संन्यासी होकर रहते थे। इस पिछली तरहके दो अवतारसदृश महापुरुष (महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध) ऐतिहासिक कालमें वि० सं० पूर्व ५०० वर्ष ऊपर गङ्गाके प्रदेशमें हुए थे। उनमें पहले महावीर स्वामी थे। उनका उपदेश किया हुआ धर्म "जैन-धर्म" कहलाता है। जैन शब्द 'जिन' शब्दसे ही बना है (जिन अर्थात् जीतनेवाला, इस संसार-रूपी मोहके गढ़का जीतनेवाला)। उन्होंने इस संसाररूपी नदीके पार करनेका पुल बनाया था तथा उसे तैरनेके लिये शास्त्ररूपी छोटे-मोटे साधन रचे, इसकारण वे तीर्थंकर भी कहाते हैं।

---

[४०]

ऋषभदेव और महावीर स्वामी

जैन-धर्ममे २४ तीर्थंकर हुए कहलाते है, उनमे पहले ऋषभदेवजी और पिछले महावीर स्वामी हुए। ऋषभदेवजी अत्यन्त प्राचीन कालमें हुए थे, और ब्राह्मण लोग भी उन्हें विष्णुके २४ अवतारोमेसे एक मानते हैं, और उनके वैराग्य, तप और परमहंस-वृत्तिकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। जैनशास्त्रोंमे कहा है कि उनके समयमें लोग लिखना पढना न जानते थे, इतना ही नहीं बल्कि भोजन बनाना आदि सभ्य मनुष्योंके साधारण कर्म भी वे न जानते थे। ऋषभदेवजीने गद्दीपर आकर उन्हें ये सब बातें सिखाईं और लेखन, गणित, पाकशास्त्र आदि अनेक विद्याये और कलायें उन्हें बतलाईं। वृद्ध होनेपर अपने लड़कोको राज्य बांट-

कर वे तप करने निकले और आत्माका स्वरूप पहिचानकर 'केवली' हुए अर्थात् परमज्ञानकी दशामें पहुंचे।

महावीर स्वामी भी इसी भांति क्षत्रिय राजकुमार थे। बालकपनसे ही उनकी वृत्ति वैराग्यकी ओर थी, परन्तु इसके साथ ही वह वृत्ति इतनी कोमल थी कि अपने प्यारे माता-पिताको छोड उनका मन दुखाकर एकदम साधु हो जाना उन्हें पसन्द न पड़ा। इसलिये उन्होंने गृहस्थाश्रममे प्रवेश किया, लेकिन माता-पिताके मरनेपर अपने बड़े भाईकी आज्ञा लेकर ३० बरसकी उमरसे वे साधु हुए। वे साधु होकर विचरने लगे। उस समयके उनके परिग्रह (साथ ली हुई वस्तु) के विषयमे दो मत हैं। कुछ लोग यह मानते है कि वे पहिलेहीसे दिगम्बर रहे थे और पाणिपात्र थे. अर्थात् हाथमें ही भिक्षा लेते थे। दूसरे लोग यह कहते है कि उन्होंने पहिली भिक्षा तो पात्रमे ही ली थी, और इसलिये साधुओंको ऐसा करना ही उचित है; फिर दीक्षा लेनेके समय इन्द्रके दिये हुए वस्त्र भी कुछ समयतक उन्होंने रखे थे, इसलिये साधुओको भी आवश्यक वस्त्र रखना उचित ही है। वह वस्त्र उनके शरीरसे किस प्रकार उतरा, इस सम्बन्धमे यह कहा जाता है कि उन्हें एक दरिद्र ब्राह्मण रास्तेमें मिला, जिसे आधा वस्त्र फाड़कर उन्होने दे दिया। फिर वह ब्राह्मण दरजीके पास उस कपड़ेकी कोर लगवाने गया। वहां दरजीने उससे कहा कि कपड़ा बहुत कीमती है, और इसका दूसरा आधा हिस्सा ले आओ तो मैं दोनोंको मिलाकर एक उत्तम वस्त्र बना दूंगा। ब्राह्मण फिर महावीर स्वामीके पास गया, लेकिन अब

दूसरा कैसे मांगू, इस तरह मन ही मन सङ्कोच करता हुआ वह स्वामीजीके पीछे हो लिया। इतनेमें यह शेष आधा वस्त्र कांटोमे उलझ गया। स्वामीजीने उसे कांटोसे न निकाला। फिर ब्राह्मणने उसे ले लिया। उस समयसे महावीर स्वामी बिल्कुल दिगम्बर रहे। इन दो बातोमेसे सत्य जो कुछ भी हो, लेकिन इतना निर्विवाद है कि महावीर स्वामीका वैराग्य बहुत तीव्र था। दीक्षा लेनेके बाद १२ बरस उन्होने तपमे बिताकर उत्तम ज्ञान प्राप्त किया, और तत्पश्चात् ३० वर्ष धर्मोपदेश कर निर्वाण पाया। अपने संन्यासकी दशामें वे जिस भागमे मुख्यतया फिरा करते थे, वह अब भी उनके विहार करनेके कारण 'विहार' नामसे कहा जाता है।

---

[४१]

जैन-धर्मका मुख्य उपदेश

धर्मचन्द्र—गुरुजी जैन-धर्ममे ऐसे कौनसे तत्व हैं जिनके बारेमे उनके सभी शास्त्रोका एक मत है?

गुरुजी—

(१) अहिंसा—'अहिंसा परमो धर्म.'—अहिंसा यह बड़ासे बड़ा धर्म है, यही जैन-धर्मका बड़ेसे बडा सिद्धान्त है। इस धर्मके समान आदेश और सारे आचार विचार अहिंसाके आधारपर स्थित हैं। जैन-धर्ममे न सिर्फ यज्ञादिकमे वा सामान्य खान पानमे हिंसाका निषेध किया गया है, बल्कि

मनुष्यकी सभी क्रियाओंकी बारीकीसे खोज कर इनमें कहाँ कहां हिंसाका प्रसङ्ग आता है, यह भलीभांति दिखलाया गया है। हिंसाके कारण मनुष्यकी क्रियाओंमें बाधा पड़नेपर यदि और कुछ न बन पड़े, तो हिंसा जहाँतक कम हो सके होनी चाहिये, इस सम्बन्धमे जैन-धर्ममे मार्ग खोज निकाले गये हैं, अर्थात् जिन प्रसङ्गोमे हिंसा अपरिहार्य हो, उनमे भी वह न्यूनातिन्यून किस प्रकार हो सकती है, इत्यादि बातोंका विवेचन किया गया है। जैन-धर्ममे 'षड् जीवकाय' (१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) वनस्पति और (६) त्रस (जङ्गम प्राणी जो त्रास, भय, देखकर एक स्थलसे दूसरे स्थलमें जा सकता है), इस प्रकार छ. तरहके जीव माने गये हैं और उनकी रक्षाके लिये उपदेश किया गया है।

जैन-धर्मका दूसरा बड़ा आग्रह तपके लिये है। उपवासादिकसे शरीर और इन्द्रियोंका दमन करना वे आवश्यक समझते है। वे मनकी वृत्तियोंका जय निष्फल नहीं मानते और न उसे कुछ कम महत्व देते है, तथापि देहका और मनका ऐसा गाढ़ा सम्बन्ध है कि देहके और इन्द्रियोके दमन विना मनका जीतना असम्भव है, यह उनका मत है। इसकारण जैन-धर्ममे उपवास करना बहुत ही आवश्यक है। साधु होनेके पहले जो केशलुंचनकी विधि है, वह भी इसकी परीक्षाके ही लिये है।

(३) वैराग्यपर जैन लोग बहुत जोर देते हैं। उनकी दृष्टिमे मनुष्यका परमपुरुषार्थ इस संसारकी समृद्धि नहीं,किन्तु कैवल्य स्थिति वा निर्वाण अथवा शान्ति है।

(४) जैन जगत्‌को अनादि मानते हैं और यह भी कहते हैं कि कर्मके महानियमसे सब कुछ चलता है। मनुष्य किये कर्मके भोग भोगे बिना छूट नहीं सकता, और जैसा करूंगा, वैसा पाऊंगा—इस सिद्धान्तपर, जो हिन्दूधर्मकी ब्राह्मण शाखाका भी है, जैनोंका दृढ़ विश्वास है, और इसे वे बड़ी खूबीसे समझाते हैं।

(५) वे जगत्‌के कर्त्ता ईश्वरको नहीं मानते, लेकिन ऋषभदेव आदि रागादि दोषरहित और लोकके उद्धारक जो तीर्थंकर हो गये हैं, उनकी वे भगवानकी तरह पूजा करते हैं। संसारमें भक्तिके नामपर अज्ञान और अन्धविश्वास फैल जाते हैं, तब कर्मप्रधान उपदेशोंकी आवश्यकता होती है।

आज मैं यही कहनेवाला था।

इसके सिवाय जैन धर्मके तत्वज्ञानमें 'स्याद्वाद' नामका एक बड़ा सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु इस प्रकारकी है या उस प्रकारकी है, इस तरह उसका एक ही रूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता। एक वस्तु एक रूपमें हो, दूसरे रूपमें न हो, एक स्थलमें हो और दूसरे स्थलमें न हो एक कालमें हो और दूसरे कालमें न हो इत्यादि। इस प्रकार एक ही वस्तु जुदी जुदी रीतिसे देखते हुए जुदी जुदी तरहकी मालूम होती है। यह बात ध्यानमें रखनेसे आपसके मतभेदके झगड़ोंका नाश हो जाना सम्भव है। यह जैनधर्मकी महत्वपूर्ण गवेषणाका फल है।

---

[४२]

जैनव्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण

गुरुजी—बालको ! अमुक मनुष्यका जीवन धार्मिक है वा नहीं, इसकी खरी कसौटी उसका चरित्र—उसकी नीति है। वह चरित्र ज्ञानसे बनता है, वह ज्ञान शास्त्रोंके देखनेसे मिलता है। तदनुसार जैन-धर्ममे, "दर्शन" "ज्ञान" और "चरित्र", ये तीन रत्न माने गये है।

अब सुन्दर चरित्र-गठनके लिये पांच व्रत अर्थात् नियमोंका पालन करना चाहिये। ये निम्न प्रकारके हैं:—

(१) अहिंसाव्रत—हिंसा न करना, अर्थात् 'प्राणातिपात'—हिंसाका दोष—न हो, यह देखना चाहिये। छोटे-बड़े स्थावर-जङ्गम किसी भी जीवकी मन-वचन-कायसे कभी हिंसा न करना, न कराना, कोई मारता हो तो उसका अनुमोदन भी न करना।

(२) सत्यव्रत—असत्य न बोलना। मन वचन कायसे क्रोधसे, लोभसे, भयसे, हँसीमें भी कभी झूठ न बोलना, न बुलवाना और न उसका अनुमोदन ही करना।

(३) अस्तेयव्रत—चोरी न करना, विना दी हुई वस्तु न लेना। मन वचनसे छोटी बड़ी कोई भी वस्तु विना दी हुई न लेना, न किसीको लेने देना और न लेनेका अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्यव्रत—मन वचन कायसे, किसी तरह भी, ब्रह्मचर्य न तोड़ना, न तुड़वाना, न तोड़नेका अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह—परिग्रह न करना—अर्थात् अपने आसपास वस्तुएं न रखना, न रखवाना, न रखनेका अनुमोदन करना। गृहस्थको जहांतक हो सके, कम वस्तुएं रखनी चाहिये और उन्हे धीरे धीरे घटाकर अन्तमे साधु होकर छोड देना चाहिये।

अब बालको, यह बतलाओ कि ये अहिंसा सत्य आदिके नियम तुमने किसी दूसरे स्थलमे पढ़े है?

गोविन्द—हां महाराज, उस दिन इन दीवारोपर सामान्य धर्मके लेख लटकाये गये थे, उनमे मैंने कुछ ऐसा ही पढ़ा था।

गुरुजी—तुम्हें ठीक याद है। ये व्रत वेदधर्मकी बहुत पुस्तकोमे (मनुस्मृति, योगसूत्र आदिमे) उल्लिखित हैं और जैन-धर्ममे भी ये माने गये हैं। इसका कारण यह है कि वे सब मूलमें एक ही हैं, किन्तु जैन शास्त्रकारोंने इनका जो ठीक ठीक और सूक्ष्म विवेचन किया है, वह देखने ही योग्य है। मन, वाणी और कायके कर्म, ऐसे तीन भेद इनमे रखे हैं, करना, कराना,और अनुमोदन करना। इस प्रकारसे उन भेदोके और भी अवान्तर भेद किये गये हैं। ऐसा होनेसे हिंसा,झूठ,चोरी आदि-के विचार मनमे लाना, अथवा कोई ऐसे विचार करता हो उन्हे पसन्द करना, यह भी हमे पापका भागी बनाता है। इस बातकी ओर जैन पण्डितोने हमारा अच्छी तरहसे ध्यान खींचा है।

इसके अलावा जैन-धर्ममे मन तथा इन्द्रियोको धर्म-मार्गमे प्रेरित करनेवाली आवश्यक क्रियाओमे स्वामीकी स्तुति-वन्दनाके साथ (१) सामायिक और (२) प्रतिक्रमण हैं।

(१) *सामायिक*—मनको समता सिखाना चाहिये। इस संसारमे सब वस्तुएं हमे इच्छानुसार कैसे मिल सकती है। बाग है, ठण्ड भी होगी, जाड़ा भी होगा, गरमी भी, बगीचे भी होगे और कांटे-झाड़ भी होंगे—संक्षेपमें सुख भी होगा और दुःख भी होगा, तथापि सुख दुःखमें मनको डाँवाडोल न होने देकर उसे समताकी दशामें रखना चाहिये। प्राणिमात्रपर एकसा भाव रखना चाहिये। इसके लिये हर एक जैनको हमेशा दो घड़ी चित्तको स्थिर रखकर स्वाध्याय और ध्यान करनेकी आज्ञा है। यह 'सामायिक' अथवा समताते अनुशीलन करनेकी विधि है।

(२) ऐसी ही दूसरी आवश्यक क्रिया *'प्रतिक्रमण'* है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको अशुभ एवं पापसे पीछे फिर कर शुभकी ओर चलना चाहिये।

मनुष्य दिन रातमें जाने-अनजाने कुछ न कुछ पाप किये विना नहीं रहता, लेकिन सांझ-सबेरे अपने पापोका विचार कर, जो हो गया उसके लिये मनमें पश्चात्ताप कर, भविष्यमे यदि वह वैसा करनेका निश्चय करे तो इससे उसका जीवन बहुत सुधर जायगा। इसलिये जैन शास्त्रकारोंने 'प्रतिक्रमण' अर्थात् पापोंको स्वीकार कर पुण्य-मार्गपर चलनेका विधान किया है। रात और दिनके विभागानुसार दो प्रतिक्रमण होते हैं। रातका सबेरे और दिनका सायंकालको प्रतिक्रमण किया जाना चाहिये।

—०—

[४६]

जैन बन्ध और मोक्ष

गुरुजी—वालको ! देखो, यह तालाव कैसा सुहावना मालूम होता है !

आनन्द—महाराज, वहुत सुहावना है, आज हम लोग यही वैठें !

गुरुजी—अब यहां वैठनेमे कोई हरकत नहीं। पहले इस जगह वहुत दुर्गन्ध आती थी, किन्तु राजाके हुकुमसे गांवका मैला पानी तालावमे जानेसे रोक दिया गया है, क्योंकि उससे तालाव बिगडता था और रोग फैलता था। (सब तालावके किनारे वैठे ।)

गुरुजी—वालको,इस तालाबकी वातसे मुझे जैन-धर्मका एक सिद्धान्त याद आता है। उस सिद्धान्तकी संज्ञा आस्रव और संवर है। आत्मामे कर्मका वहाना यह आस्रवका सरल अर्थ है। जैसे गाँवका मैला पानी नालोंमे होकर तालावमे वहता है और उसे मैला कर डालता है, वैसे ही इस संसारके विषय इन्द्रिय आदि नालोंमे होकर आत्मामे प्रवेश करते है और आत्माको विगाड़ देते हैं। एक दूसरा दृष्टान्त यह दिया जाता है कि जैसे भीगे वस्त्रपर धूल आ पड़ती है और उसे चिपट जाती है, वैसे ही क्रोध, अभिमान आदि दुष्ट वृत्तियोसे लिप्त आत्माको इस संसारके कर्म चिपट जाते हैं। इन दुष्ट वृत्तियोको